

अध्यात्मनवनीत

प्रथम संस्करण : ५ हजार
(७ फरवरी ०५)

लेखक :
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.
फोन : ०१४१-२७१०४५७

प्रकाशक
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५
फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

मूल्य : १५ रुपए

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम.आई.रोड, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्रीमती लक्ष्मीबेन श्रेयांसजी जैन, कलकत्ता ११०००.००
२. श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, नौगामा ५१००.००
३. श्री पारसकुमारजी जैन हस्ते पारसकुमार
सतीशकुमार जैन, फिरोजपुर ५१००.००
४. श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द स्मृति
ट्रस्ट, अलवर ५१००.००
५. श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम
ट्रस्ट, इन्दौर ५००१.००
६. श्री अनंतराय अमोलकचंदजी सेठ, मुम्बई ५०००.००
७. डॉ. कुमारी मालती जैन, मैनपुरी ५०००.००
८. श्री शान्तिनाथ दि. जैन मन्दिर, मोदीनगर ३१००.००
९. श्री कुन्दकुन्द दि. जैन स्वाध्याय
मण्डल ट्रस्ट, नागपुर ३१००.००
१०. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, खण्डवा ३१००.००
११. श्री प्रदीपकुमार सूरजमलजी जैन, मन्दसौर ३०००.००
१२. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प.
पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर १००१.००
१३. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल ५०१.००
१४. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज ५०१.००

कुल राशि : ५५६०४.००

स्वाध्याय का एक भेद : आम्नाय

स्वाध्यायः परमं तपः^१ – कहकर जैनदर्शन में स्वाध्याय को परमतप घोषित किया गया है। स्वाध्याय का नाम बारह तपों में दशवें तप के रूप में आता है। बारह तपों में यदि स्वाध्याय से बढ़ा कोई तप है तो एक मात्र ध्यान ही है। संतों के मुख्यरूप से ध्यान और अध्ययन (स्वाध्याय) ये दो कार्य ही स्वीकार किये गये हैं।

आचार्य समन्तभद्र तो स्पष्ट लिखते हैं –

“ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते^२ – ज्ञान (स्वाध्याय) और ध्यानरूप तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसा योग्य है।”

इसके अतिरिक्त स्वाध्याय संतों के छह आवश्यकों में भी आता है और श्रावकों के छह आवश्यकों में भी आता है। तात्पर्य यह है कि यह स्वाध्याय नामक तप सभी को करना चाहिए।

आचार्यों ने जिस स्वाध्याय को परमतप घोषित किया है, उसे आज हम तप के रूप में आदर देने को भी तैयार नहीं हैं। उपवासादि करनेवालों को तो सभी तपस्वी कहते हैं, पर स्वाध्याय करनेवालों को कौन तपस्वी मानता है? यह एक विचारणीय बात है।

स्वाध्याय तप पाँच प्रकार का बताया गया है; जो इसप्रकार है –

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना वाचना स्वाध्याय है; शंकाओं के समाधान के लिए विशेषज्ञों से पूछना पृच्छना स्वाध्याय है; पढ़े हुए, पूछे हुए, सुने हुए तत्त्वज्ञान संबंधी विषय का चिन्तन अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है; सुनिश्चित विषयवस्तु को बार-बार दुहराना आम्नाय स्वाध्याय है और उक्त प्रकार से प्राप्त तत्त्वज्ञान को दूसरों को समझाना धर्मोपदेश स्वाध्याय है।

उक्त पाँच स्वाध्यायों में चौथा स्वाध्याय आम्नाय है; जिसे आज पाठ करने के रूप में जाना जाता है।

यद्यपि पाठ करने की परम्परा हमारे यहाँ रूढ़ि के रूप में तो पुराने-जमाने से चली आ रही है; तथापि उसमें परिमार्जन की आवश्यकता है।

१. हरिवंशपुराण (प्रथम सर्ग, श्लोक-६९)

२. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द १०

पाठ प्रतिदिन उन ग्रन्थों का किया जाना चाहिए, जिनका हमारे आत्म-कल्याण से सीधा संबंध हो और जिसका पाठ किया जाय, पाठ करते समय उसका भाव हमें स्पष्टरूप से ख्याल में आना चाहिए।

इसी बात का ध्यान रखकर मैंने अत्यन्त उपयोगी कतिपय ग्रन्थों का पद्यानुवाद अत्यन्त सरल-सुबोध भाषा में किया और उनके महत्त्वपूर्ण अंशों को शतकों के रूप में संकलित कर संक्षिप्तरूप में प्रस्तुत किया है।

यदि समय हो तो हमें पूरे ग्रन्थों का पाठ करना चाहिए और समय कम हो तो शतकों का पाठ किया जा सकता है।

इसी भावना से मैंने हमारी आचार्य परम्परा के शिरमौर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं अष्टपाहुड़ एवं इनकी टीका में समागत कलशों के पद्यानुवाद किये हैं।

पाठ करने की सुविधा की दृष्टि से उन सभी को संकलित कर यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। उक्त कृतियों के अतिरिक्त इसमें योगसार पद्यानुवाद और द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद भी शामिल कर दिए हैं। इसी भावना से जिनेन्द्र वंदना और बारह भावना को भी शामिल किया गया है।

भक्ति भावना में कोई कमी न रह जावे – इस भावना से पूजनें भी जोड़ दी हैं। इसप्रकार यह संकलन अत्यन्त उपयोगी कृति के रूप में प्रस्तुत हो गया है।

आत्मकल्याण से संबंधित ग्रन्थों का पाठ करते रहने से परिणामों में पवित्रता तो रहती ही है; उन ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयवस्तु भी स्मृति में उपस्थित रहती है।

जितना महत्त्व आध्यात्मिक ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने का है, तत्संबंधी तत्त्वचर्चा और चिन्तवन का है; उससे अधिक महत्त्व उनके पाठ करने का है; क्योंकि पाठ किये बिना विषय उपस्थित नहीं रहता, याद नहीं रहता। बिना स्मृति के उपदेश देना तो संभव ही नहीं है।

कहा भी है कि **कंठ की विद्या, अंट का दाम, समय पड़े पर आवे काम।**

सभी आत्मारथी बन्धु नियमित पाठ करके इस कृति का भरपूर लाभ उठायेंगे – इस भावना से विराम लेता हूँ।

२६ जनवरी, २००५

भारिल्ल

– डॉ. हुकमचन्द

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण : मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ	१
महावीर वन्दना	२
जिनेन्द्र वन्दना	३
श्री देव-शास्त्र-गुरु पूजन	५
श्री सिद्ध पूजन	१२
श्री महावीर पूजन	१६
श्री सीमन्धर पूजन	२१
बारह भावना	२५
कुन्दकुन्दशतक पद्यानुवाद	३४
शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	४२
समयसार पद्यानुवाद	५०
रंगभूमि एवं जीव-अजीव अधिकार (गाथा १ से ६८)	५०
कर्ताकर्म अधिकार (गाथा ६९ से १४४)	५५
पुण्य-पाप अधिकार (गाथा १४५ से १६३)	६१
आस्रव अधिकार (गाथा १६४ से १८०)	६२
संवर अधिकार (गाथा १८१ से १९२)	६४
निर्जरा अधिकार (गाथा १९३ से २३६)	६५
बंध अधिकार (गाथा २३७ से २८७)	६८
मोक्ष अधिकार (गाथा २८८ से ३०७)	७२
सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार (गाथा ३०८ से ४१६)	७४
समयसार कलश पद्यानुवाद	८३
जीवाजीवाधिकार (कलश १ से ४५)	८३
कर्ताकर्माधिकार (कलश ४६ से ९९)	९०
पुण्य-पापाधिकार (कलश १०० से ११२)	१००
आस्रवाधिकार (कलश ११३ से १२४)	१०२
संवराधिकार (कलश १२५ से १३२)	१०४
निर्जराधिकार (कलश १३३ से १६२)	१०५
बंधाधिकार (कलश १६३ से १७९)	११०

अनुक्रमणिका

मोक्षाधिकार (कलश १८० से १९२)	११३
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार (कलश १९३ से २७८)	११५
प्रवचनसार पद्यानुवाद	१३०
ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार	१३०
मंगलाचरण एवं पीठिका (गाथा १ से गाथा १२)	
शुद्धोपयोगाधिकार (गाथा १३ से गाथा २०)	
ज्ञानाधिकार (गाथा २१ से गाथा ५२)	
सुखाधिकार (गाथा ५३ से गाथा ६८)	
शुभपरिणामाधिकार (गाथा ६९ से गाथा ९२)	
ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार	१३८
द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार (गाथा ९३ से गाथा १२६)	
द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार (गाथा १२७ से गाथा १४४)	
ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार (गाथा १४५ से गाथा २००)	
चरणानुयोगसूचक चूलिका महाधिकार	१४७
आचरणप्रज्ञापनाधिकार (गाथा २०१ से गाथा २३१)	
मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार (गाथा २३२ से २४४)	
शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार (गाथा २४५ से गाथा २७०)	
पंचरत्नअधिकार (गाथा २७१ से गाथा २७५)	
प्रवचनसार कलश पद्यानुवाद	१५५
अष्टपाहुड पद्यानुवाद	१६०
दर्शनपाहुड (गाथा १ से गाथा ३६)	१६०
सूत्रपाहुड (गाथा १ से गाथा २७)	१६३
चारित्रपाहुड (गाथा १ से गाथा ४५)	१६५
बोधपाहुड (गाथा १ से गाथा ६२)	१६८
भावपाहुड (गाथा १ से गाथा १६५)	१७३
मोक्षपाहुड (गाथा १ से गाथा १०६)	१८६
लिंगपाहुड (गाथा १ से गाथा २२)	१९४
शीलपाहुड (गाथा १ से गाथा ४०)	१९६
योगसार पद्यानुवाद	२००
द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	२०९
मंगलाचरण	२१४

अध्यात्मनवनीत

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं ।
मैं अरस अरूपी अस्पर्शी,
पर से कुछ भी संबंध नहीं ॥१॥
मैं रंग-राग से भिन्न,
भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ॥२॥
मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ॥३॥
मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक,
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ॥४॥

महावीर वन्दना

(हरिगीतिका)

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं ।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं ॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर हैं ॥
वे वंदनीय जिनेश तीर्थकर स्वयं महावीर हैं ॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में ।
जिनके विराट विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में ॥
युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में ॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है ।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है ॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है ।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शतबार है ॥

जिनके विमल उपदेश में, सबके उदय की बात है ।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है ॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है ।
कर्ता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है ॥

आतम बने परमात्मा, हो शान्ति सारे देश में ।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में ॥

-●-

जिनेन्द्र वन्दना

(दोहा)

चौबीसों परिग्रह रहित चौबीसों जिनराज ।
वीतराग सर्वज्ञ जिन हितकर सर्व समाज ॥

(हरिगीतिका)

१. श्री आदिनाथ वन्दना

श्री आदिनाथ अनादि मिथ्या मोह का मर्दन किया ।
आनन्दमय ध्रुवधाम निज भगवान का दर्शन किया ॥
निज आतमा को जानकर निज आतमा अपना लिया ।
निज आतमा में लीन हो निज आतमा को पा लिया ॥

२. श्री अजितनाथ वन्दना

जिन अजित जीता क्रोध रिपु निज आतमा को जानकर ।
निज आतमा पहिचान कर निज आतमा का ध्यान धर ॥
उत्तम क्षमा की प्राप्ति की बस एक ही है साधना ।
आनन्दमय ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना ॥

३. श्री सम्भवनाथ वन्दना

सम्भव असम्भव मान मार्दव धर्ममय धर्मात्मा ।
तुमने बताया जगत को सब आतमा परमात्मा ॥
छोटे-बड़े की भावना ही मान का आधार है ।
निज आतमा की साधना ही साधना का सार है ॥

४. श्री अभिनन्दननाथ वन्दना

निज आतमा को आतमा ही जानना है सरलता ।
निज आतमा की साधना आराधना है सरलता ॥
वैराग्य जननी नन्दनी अभिनन्दनी है सरलता ।
है साधकों की संगिनी आनन्द जननी सरलता ॥

५. श्री सुमतिनाथ वन्दना

है सर्वदर्शी सुमति जिन! आनन्द के रस कंद हो ।
हो शक्तियों के संग्रहालय ज्ञान के घनपिण्ड हो ॥
निर्लोभ हो निर्दोष हो निष्क्रोध हो निष्काम हो ।
हो परम-पावन पतित-पावन शौचमय सुखधाम हो ॥

६. श्री पद्मप्रभ वन्दना

मानता आनन्द सब जग हास में परिहास में ।
पर आपने निर्मद किया परिहास को परिहास में ॥
परिहास भी है परिग्रह जग को बताया आपने ।
हे पद्मप्रभ परमात्मा पावन किया जग आपने ॥

७. श्री सुपार्श्वनाथ वन्दना

पारस सुपारस है वही पारस करे जो लोह को ।
वह आतमा ही है सुपारस जो स्वयं निर्मोह हो ॥
रति-राग वर्जित आतमा ही लोक में आराध्य है ।
निज आतमा का ध्यान ही बस साधना है साध्य है ॥

८. श्री चन्द्रप्रभ वन्दना

रति-अरतिहर श्री चन्द्र जिन तुम ही अपूरव चन्द्र हो ।
निश्शेष हो निर्दोष हो निर्विघ्न हो निष्कंप हो ॥
निकलंक हो अकलंक हो निष्ताप हो निष्पाप हो ।
यदि हैं अमावस अज्ञजन तो पूर्णमासी आप हो ॥

९. श्री सुविधिनाथ (पुष्पदंत) वन्दना

विरहित विविध विधि सुविधि जिन निज आतमा में लीन हो ।
हो सर्वगुण सम्पन्न जिन सर्वज्ञ हो स्वाधीन हो ॥
शिवमग बतावनहार हो शत इन्द्र करि अभिवन्द्य हो ।
दुख-शोकहर भ्रमरोगहर संतोषकर सानन्द हो ॥

१०. श्री शीतलनाथ वन्दना

आपका गुणगान जो जन करें नित अनुराग से ।
सब भय भयंकर स्वयं भयकरि भाग जावें भाग से ॥
तुम हो स्वयंभू नाथ निर्भय जगत को निर्भय किया ।
हो स्वयं शीतल मलयगिरि से जगत को शीतल किया ॥

११. श्री श्रेयांसनाथ वन्दना

नरतन विदारन मरन-मारन मलिनभाव विलोक के ।
दुर्गन्धमय मलमूत्रमय नरकादि थल अवलोक के ॥
जिनके न उपजे जुगुप्सा समभाव महल-मसान में ।
वे श्रेय श्रेयस्कर शिरी (श्री) श्रेयांस विचरें ध्यान में ॥

१२. श्री वासूपूज्य वन्दना

निज आतमा के भान बिन सुख मानकर रति-राग में ।
सारा जगत नित जल रहा है वासना की आग में ॥
तुम वेद-विरहित वेदविद जिन वासना से दूर हो ।
वसुपूज्यसुत बस आप ही सानन्द से भरपूर हो ॥

१३. श्री विमलनाथ वन्दना

बस आतमा ही बस रहा जिनके विमल श्रद्धान में ।
निज आतमा बस एक ही नित रहे जिनके ध्यान में ॥
सब द्रव्य-गुण-पर्याय जिनके नित्य झलकें ज्ञान में ।
वे वेद विरहित विमल जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

१४. श्री अनन्तनाथ वन्दना

तुम हो अनादि अनंत जिन तुम ही अखण्डानन्त हो ।
तुम वेद-विरहित वेद-विद शिव कामिनी के कन्त हो ॥
तुम सन्त हो भगवन्त हो तुम भवजलधि के अन्त हो ।
तुम में अनन्तानन्त गुण तुम ही अनन्तानन्त हो ॥

१५. श्री धर्मनाथ वन्दना

हे धर्म जिन सद्धर्ममय सत् धर्म के आधार हो ।
भवभूमि का परित्याग कर जिन भवजलधि के पार हो ॥
आराधना आराधकर आराधना के सार हो ।
धरमातमा परमातमा तुम धर्म के अवतार हो ॥

१६. श्री शान्तिनाथ वन्दना

मोहक महल मणिमाल मंडित सम्पदा षट्खण्ड की ।
हे शान्ति जिन तृणसम तजी ली शरण एक अखण्ड की ॥
पायो अखण्डानन्द दर्शन ज्ञान बीरज आपने ।
संसार पार उतारनी दी देशना प्रभु आपने ॥

१७. श्री कुन्थुनाथ वन्दना

मनहर मदन तन वरन सुवरन सुमन सुमन समान ही ।
धनधान्य पूरित सम्पदा अगणित कुबेर समान थी ॥
थीं उरवसी सीं अंगनाएँ संगनी संसार की ।
श्री कुन्थु जिन तृणसम तजी ली राह भवदधि पार की ॥

१८. श्री अरनाथ वन्दना

हे चक्रधर जग जीतकर षट्खण्ड को निज वश किया ।
पर आतमा निज नित्य एक अखण्ड तुम अपना लिया ॥
हे ज्ञानधन अरनाथ जिन धन-धान्य को ठुकरा दिया ।
विज्ञानधन आनन्दधन निज आतमा को पा लिया ॥

१९. श्री मल्लिनाथ वन्दना

हे दुपद-त्यागी मल्लि जिन मन-मल्ल का मर्दन किया ।
एकान्त पीड़ित जगत को अनेकान्त का दर्शन दिया ॥
तुमने बताया जगत को क्रमबद्ध है सब परिणमन ।
हे सर्वदर्शी सर्वज्ञानी नमन हो शत-शत नमन ॥

२०. श्री मुनिसुव्रत वन्दना

मुनिमनहरण श्री मुनीसुव्रत चतुष्पद परित्याग कर ।
निजपद विहारी हो गये तुम अपद पद परिहार कर ॥
पाया परमपद आपने निज आतमा पहिचान कर ।
निज आतमा को जानकर निज आतमा का ध्यान धर ॥

२१. श्री नमिनाथ वन्दना

निजपद विहारी धरमधारी धरममय धरमातमा ।
निज आतमा को साध पाया परमपद परमातमा ॥
हे यान-त्यागी नमी तेरी शरण में मम आतमा ।
तूने बताया जगत को सब आतमा परमातमा ॥

२२. श्री नेमिनाथ वन्दना

आसन बिना आसन जमा गिरनार पर घनश्याम तन ।
सद्बोध पाया आपने जग को बताया नेमि जिन ॥
स्वाधीन है प्रत्येक जन स्वाधीन है प्रत्येक कन ।
पर द्रव्य से है पृथक् पर हर द्रव्य अपने में मगन ॥

२३. श्री पार्श्वनाथ वन्दना

तुम हो अचेलक पार्श्वप्रभु वस्त्रादि सब परित्याग कर ।
तुम वीतरागी हो गये रागादिभाव निवार कर ॥
तुमने बताया जगत को प्रत्येक कण स्वाधीन है ।
कर्ता न धर्ता कोई है अणु अणु स्वयं में लीन है ॥

२४. श्री वीर वन्दना

हे पाणिपात्री वीर जिन जग को बताया आपने ।
जगजाल में अबतक फंसाया पुण्य एवं पाप ने ॥
पुण्य एवं पाप से है पार मग सुख-शान्ति का ।
यह धरम का है मरम यह विस्फोट आतम क्रान्ति का ॥

(दोहा)

पुण्य-पाप से पार, निज आतम का धरम है ।
महिमा अपरम्पार, परम अहिंसा है यही ॥

श्री देव-शास्त्र-गुरु पूजन

स्थापना

(दोहा)

शुद्धब्रह्म परमात्मा शब्दब्रह्म जिनवाणि ।

शुद्धात्म साधकदशा नमों जोड़ि जुगपाणि ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरु समूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठ तिष्ठ
ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

(जल)

आशा की प्यास बुझाने को, अबतक मृगतृष्णा में भटका ।
जल समझ विषय-विष भोगोंको, उनकी ममता में था अटका ॥
लख सौम्य दृष्टि तेरी प्रभुवर, समता रस पीने आया हूँ ।
इस जल ने प्यास बुझाई ना, इस को लौटाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(चंदन)

क्रोधानल से जब जला हृदय, चंदन ने कोई न काम किया ।
तन को तो शान्त किया इसने, मन को न मगर आराम दिया ॥
संसार ताप से तप्त हृदय, सन्ताप मिटाने आया हूँ ।
चरणों में चन्दन अर्पण कर, शीतलता पाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो संसारतापविनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा ।

(अक्षत)

अभिमान किया अबतक जड़पर, अक्षयनिधि को ना पहिचाना ।
मैं जड़ का हूँ जड़ मेरा है यह, सोच बना था मस्ताना ॥
क्षत में विश्वास किया अबतक, अक्षत को प्रभुवर ना जाना ।
अभिमान की आन मिटाने को, अक्षयनिधि तुम को पहिचाना ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

(पुष्प)

दिन-रात वासना में रह कर, मेरे मन ने प्रभु सुख माना ।
पुरुषत्व गमाया पर प्रभुवर, उसके छल को न पहिचाना ॥

माया ने डाला जाल प्रथम, कामुकता ने फिर बाँध लिया ।
उसका प्रमाण यह पुष्प-बाण लाकर के प्रभुवर भेंट किया ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

(नैवेद्य)

पर पुद्गल का भक्षण करके, यह भूख मिटाना चाही थी ।
इस नागिन से बचने को प्रभु, हर चीज बना कर खाई थी ॥
मिष्टान्न अनेक बनाये थे, दिन-रात भखे न मिटी प्रभुवर ।
अब संयम भाव जगाने को, लाया हूँ ये सब थाली भर ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(दीप)

पहिले अज्ञान मिटाने को, दीपक था जग में उजियाला ।
उससे न हुआ कुछ तब युग ने, बिजली का बल्ब जला डाला ॥
प्रभु भेदज्ञान की आँख न थी, क्या कर सकती थी यह ज्वाला ।
यह ज्ञान है कि अज्ञान कहो, तुमके भी दीप दिखा डाला ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो मोहांधकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

(धूप)

शुभ कर्म कमाऊँ सुख होगा, मैंने अबतक यह माना था ।
पाप कर्म को त्याग पुण्य को, चाह रहा अपनाना था ॥
किन्तु समझ कर शत्रु कर्म को, आज जलाने आया हूँ ।
लेकर दशांग यह धूप, कर्म की धूम उड़ाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

(फल)

भोगों को अमृतफल जाना, विषयों में निश-दिन मस्त रहा ।
उनके संग्रह में हे प्रभुवर!, मैं व्यस्त त्रस्त अभ्यस्त रहा ॥
शुद्धात्मप्रभा जो अनुपम फल, मैं उसे खोजने आया हूँ ।
प्रभु सरस सुवासित ये जड़ फल, मैं तुम्हें चढ़ाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(अर्घ्य)

बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता ।
अरे पूर्णता पाने में, क्या है इसकी आवश्यकता ॥
मैं स्वयं पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्घ मेरी माया ।
बहुमूल्य द्रव्यमय अर्घ्य लिये, अर्पण के हेतु चला आया ॥
ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

समयसार जिनदेव हैं, जिन प्रवचन जिनवाणि ।
नियमसार निर्ग्रन्थ गुरु, करें कर्म की हानि ॥

(देव)

हे वीतराग सर्वज्ञ प्रभो, तुमको ना अबतक पहिचाना ।
अतएव पड़ रहे हैं प्रभुवर, चौरासी के चक्कर खाना ॥
करुणानिधि तुमको समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा ।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा ॥
तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना ।
तुम हो निरीह जग से कृत-कृत, इतना ना मैंने पहिचाना ॥
प्रभु वीतराग की वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है ।
जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है ॥
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया ।
बनकर पर का कर्ता अबतक, सत् का न प्रभो सन्मान किया ॥

(शास्त्र)

भगवान तुम्हारी वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है ।
स्याद्वाद नय अनेकान्त मय, समयसार समझाया है ॥
उस पर तो ध्यान दिया न प्रभो, विकथा में समय गमाया है ।
शुद्धात्म रुचि न हुई मन में, ना मन को उधर लगाया है ॥

मैं समझ न पाया था अबतक, जिनवाणी किसको कहते हैं ।
प्रभु वीतराग की वाणी में, कैसे क्या तत्त्व निकलते हैं ॥
राग धर्ममय धर्म रागमय, अबतक ऐसा जाना था ।
शुभ कर्म कमाते सुख होगा, बस अबतक ऐसा माना था ॥
पर आज समझ में आया है, कि वीतरागता धर्म अहा ।
राग-भाव में धर्म मानना, जिनमत में मिथ्यात्व कहा ॥
वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है ।
यह है मुक्ति का मार्ग निरंतर, हमको जो दिखलाती है ॥

(गुरु)

उस वाणी के अन्तर्तम को, जिन गुरुओं ने पहिचाना है ।
उन गुरुवर्यों के चरणों में, मस्तक बस हमें झुकाना है ॥
दिन-रात आत्मा का चिंतन, मृदु सम्भाषण में वही कथन ।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन ॥
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वात्म में सदा विचरते जो ।
ज्ञानी ध्यानी समरससानी, द्वादश विधि तप नित करते जो ॥
चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं ।
हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं ॥

(देव-शास्त्र-गुरु)

हो नमस्कार शुद्धात्म को, हो नमस्कार जिनवर वाणी ।
हो नमस्कार उन गुरुओं को, जिनकी चर्या समरससानी ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(दोहा)

दर्शन दाता देव हैं, आगम सम्यग्ज्ञान ।
गुरु चारित्र की खानि हैं, मैं वंदौं धरि ध्यान ॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्

श्री सिद्ध पूजन

स्थापना

(दोहा)

चिदानन्द स्वातमरसी, सत् शिव सुन्दर जान ।

ज्ञाता दृष्टा लोक के, परम सिद्ध भगवान ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिने ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

(जल)

ज्यों-ज्यों प्रभुवर जल पान किया, त्यों-त्यों तृष्णा की आग जली ।

थी आश कि प्यास बुझेगी अब, पर यह सब मृगतृष्णा निकली ॥

आशा तृष्णा से जला हृदय, जल लेकर चरणों में आया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं नि. स्वाहा ।

(चंदन)

तन का उपचार किया अबतक, उस पर चन्दन का लेप किया ।

मल-मल कर खूब नहा करके, तन के मल का विक्षेप किया ॥

अब आतम के उपचार हेतु, तुमको चन्दन सम है पाया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने संसारतापविनाशनाय चंदनं नि. स्वाहा ।

(अक्षत)

सचमुच तुम अक्षत हो प्रभुवर, तुम ही अखण्ड अविनाशी हो ।

तुम निराकार अविचल निर्मल, स्वाधीन सफल संन्यासी हो ॥

ले शालिकणों का अवलम्बन, अक्षयपद! तुमको अपनाया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं नि. स्वाहा ।

(पुष्प)

जो शत्रु जगत का प्रबल काम, तुमने प्रभुवर उसको जीता ।

हो हार जगत के वैरी की, क्यों नहीं आनन्द बढ़े सब का ॥

प्रमुदित मन विकसित सुमन नाथ, मनसिज को ठुकराने आया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि. स्वाहा ।

(नैवेद्य)

मैं समझ रहा था अबतक प्रभु, भोजन से जीवन चलता है ।

भोजन बिन नरकों में जीवन, भरपेट मनुज क्यों मरता है ॥

तुम भोजन बिन अक्षय सुखमय, यह समझ त्यागने हूँ आया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं नि. स्वाहा ।

(दीप)

आलोक ज्ञान का कारण है, इन्द्रिय से ज्ञान उपजता है ।

यह मान रहा था, पर क्यों कर, जड़ चेतन सर्जन करता है ॥

मेरा स्वभाव है ज्ञानमयी, यह भेदज्ञान पा हरषाया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि. स्वाहा ।

(धूप)

मेरा स्वभाव चेतनमय है, इसमें जड़ की कुछ गंध नहीं ।

मैं हूँ अखण्ड चिद्पिण्ड चण्ड, पर से कुछ भी संबंध नहीं ॥

यह धूप नहीं, जड़-कर्मों की रज आज उड़ाने में मैं आया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अष्टकर्मदहनाय धूपं नि. स्वाहा ।

(फल)

शुभ कर्मों का फल विषय-भोग, भोगों में मानस रमा रहा ।

नित नई लालसायें जागीं, तन्मय हो उनमें समा रहा ॥

रागादि विभाव किए जितने, आकुलता उनका फल पाया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफलप्राप्तये फलं नि. स्वाहा ।

(अर्घ्य)

जल पिया और चंदन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की-
 पहनीं तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की ॥
 सुरभी धूपायन की फैली, शुभ कर्मों का सब फल पाया ।
 आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया ॥
 जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ ।
 सुख नहीं विषय-भोगों में है, तुम को लख यह सद्ज्ञान हुआ ॥
 जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया ।
 होकर निराश सब जगभर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥
 ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि. स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

आलोकित हो लोक में, प्रभु परमात्मप्रकाश ।
 आनन्दामृत पान कर, मिटे सभी की प्यास ॥

(पद्धरि छन्द)

जय ज्ञानमात्र ज्ञायक स्वरूप, तुम हो अनन्त चैतन्य रूप ।
 तुम हो अखण्ड आनन्द पिण्ड, मोहारि दलन को तुम प्रचण्ड ॥
 रागादि विकारी भाव जार, तुम हुए निरामय निर्विकार ।
 निर्द्वन्द्व निराकुल निराधार, निर्मम निर्मल हो निराकार ॥
 नित करत रहत आनन्द रास, स्वाभाविक परिणति में विलास ।
 प्रभु शिव रमणी के हृदय हार, नित करत रहत निज में विहार ॥
 प्रभु भवदधि यह गहरो अपार, बहते जाते सब निराधार ।
 निज परिणति का सत्यार्थभान, शिव पद दाता जो तत्त्वज्ञान ॥
 पाया नहीं मैं उसको पिछान, उल्टा ही मैंने लिया मान ।
 चेतन को जड़मय लिया जान, तन में अपनापा लिया मान ॥

शुभ-अशुभ राग जो दुःखखान, उसमें माना आनन्द महान ।
 प्रभु अशुभ कर्म को मान हेय, माना पर शुभ को उपादेय ॥
 जो धर्म-ध्यान आनन्दरूप, उसको माना मैं दुःखस्वरूप ।
 मनवांछित चाहे नित्य भोग, उनको ही माना है मनोग ॥
 इच्छा निरोध की नहीं चाह, कैसे मिटता भव-विषय-दाह ।
 आकुलतामय संसार सुख, जो निश्चय से है महा दुःख ॥
 उसकी ही निश दिन करी आश, कैसे कटता संसार पास ।
 भव-दुःख का पर को हेतु जान, पर से ही सुख को लिया मान ॥
 मैं दान दिया अभिमान ठान, उसके फल पर नहीं दिया ध्यान ।
 पूजा कीनी वरदान माँग, कैसे मिटता संसार स्वाँग ॥
 तेरा स्वरूप लख प्रभु आज, हो गये सफल संपूर्ण काज ।
 मो उर प्रगट्यो प्रभु भेदज्ञान, मैंने तुम को लीना पिछान ॥
 तुम पर के कर्ता नहीं नाथ, ज्ञाता हो सबके एकसाथ ।
 तुम भक्तों को कुछ नहीं देत, अपने समान बस बना लेत ॥
 यह मैंने तेरी सुनी आन, जो लेवे तुमको बस पिछान ।
 वह पाता है केवल्यज्ञान, होता परिपूर्ण कला-निधान ॥
 विपदामय परपद है निकाम, निज पद ही है आनन्द धाम ।
 मेरे मन में बस यही चाह, निज पद को पाऊँ हे जिनाह ॥
 ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने जयमालार्घ्यं नि. स्वाहा ।

(दोहा)

पर का कुछ नहीं चाहता, चाहूँ अपना भाव ।
 निज स्वभाव में थिर रहूँ, मेटो सकल विभाव ॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्

-●-

श्री महावीर पूजन

(हरिगीत)

स्थापना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं ।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान-धारण धीर हैं ॥
जो तरण-तारण भव-निवारण, भव-जलधिके तीर हैं ।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थकर स्वयं महावीर हैं ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिन ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।
अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

(जल)

जिनके गुणों का स्तवन पावन करन अम्लान है ।
मल हरन निर्मल करन भागीरथी नीर समान है ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(चंदन)

लिपटे रहें विषधर तदपि चंदन विटप निर्विष रहें ।
त्यों शान्त शीतल ही रहो रिपु विघन कितने ही करें ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा ।

(अक्षत)

सुख-ज्ञान-दर्शन-वीर जिन अक्षत समान अखंड हैं ।
हैं शान्त यद्यपि तदपि जो दिनकर समान प्रचंड हैं ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

(पुष्प)

त्रिभुवनजयी अविजित कुसुमसर सुभट मारन सूर हैं ।
परगंध से विरहित तदपि निजगंध से भरपूर हैं ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥
ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

(नैवेद्य)

यदि भूख हो तो विविध व्यंजन मिष्ट इष्ट प्रतीत हों ।
तुम क्षुधा-बाधा रहित जिन क्यों तुम्हें उनसे प्रीति हो ?
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥
ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(दीप)

युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें नित्य केवलज्ञान में ।
त्रैलोक्यदीपक वीरजिन दीपक चढ़ाऊँ क्या तुम्हें ?
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥
ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

(धूप)

जो कर्म-ईधन-दहन पावक-पुंज पवन समान हैं ।
जो हैं अमेय प्रमेय पूरण ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान हैं ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥
ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

(फल)

सारा जगत फल भोगता नित पुण्य एवं पाप का ।
सब त्याग समरस निरत जिनवर सफल जीवन आपका ॥

संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(अर्घ्य)

इस अर्घ्य का क्या मूल्य है अनअर्घ्य पद के सामने ।
उस परम-पद को पा लिया, हे पतित पावन आपने ॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(सोरठा)

(पंचकल्याणक अर्घ्य)

सित छटवीं आषाढ, माँ त्रिशला के गर्भ में ।
अंतिम गर्भावास, यही जान प्रणमूँ प्रभो ॥

ॐ ह्रीं श्री आषाढशुक्लाषष्ठ्यां गर्भमंगलमंडिताय श्री महावीरजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

तेरस दिन सित चैत, अन्तिम जन्म लियो प्रभू ।
नृप सिद्धार्थ निकेत, इन्द्र आय उत्सव कियो ॥

ॐ ह्रीं श्री चैत्रशुक्लात्रयोदश्यां जन्ममंगलमंडिताय श्री महावीरजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दशवीं मंगसिर कृष्ण, वर्द्धमान दीक्षा धरी ।
कर्म-कालिमा नष्ट, करने आत्मरथी बने ॥

ॐ ह्रीं श्री मार्गशीर्षकृष्णादश्यां तपमंगलमंडिताय श्री महावीरजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

सित दशवीं बैसाख, पायो केवलज्ञान जिन ।
अष्ट द्रव्यमय अर्घ्य, प्रभुपद पूजा करें हम ॥

ॐ ह्रीं श्री बैसाखशुक्लादश्यां ज्ञानमंगलमंडिताय श्री महावीरजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

कार्तिकमावस श्याम, पायो प्रभुनिर्वाण तुम ।
पावा तीरथधाम, दीपावली मनाँय हम ॥

ॐ ह्रीं श्री कार्तिककृष्णाअमावस्यां मोक्षमंगलमंडिताय श्री महावीरजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

यद्यपि युद्ध नहीं कियो, नाहिं रखे असि-तीर ।

परम अहिंसक आचरण, तदपि बने महावीर ॥१॥

(पद्धरी छन्द)

हे मोह-महादल-दलन वीर, दुद्धर-तप संयम धरण धीर ।
तुम हो अनन्त आनन्दकन्द, तुम रहित सर्व जग दंद-फंद ॥२॥
अघकरन करन-मन हरन-हार, सुखकरन हरन भवदुख अपार ।
सिद्धार्थ तनय तन रहित देव, सुर-नर-किन्नर सब करत सेव ॥३॥
मतिज्ञान रहित सन्मति जिनेश, तुम राग-द्वेष जीते अशेष ।
शुभ-अशुभ राग की आग त्याग, हो गये स्वयं तुम वीतराग ॥४॥
षट् द्रव्य और उनके विशेष, तुम जानत हो प्रभुवर अशेष ।
सर्वज्ञ-वीतरागी जिनेश, जो तुम को पहिचाने विशेष ॥५॥
वे पहिचानें अपना स्वभाव, वे करें मोह-रिपु का अभाव ।
वे प्रगट करें निज-पर विवेक, वे ध्यावें निज शुद्धात्म एक ॥६॥
निज आतम में ही रहें लीन, चारित्रमोह को करें क्षीन ।
उनका हो जावे क्षीण राग, वे भी हो जावें वीतराग ॥७॥
जो हुए आज तक अरीहंत, सबने अपनाया यही पंथ ।
उपदेश दिया इस ही प्रकार, हो सबको मेरा नमस्कार ॥८॥
जो तुमको नहीं जाने जिनेश, वे पावें भव-भव भ्रमण-क्लेश ।
वे माँगे तुमसे धन-समाज, वैभव पुत्रादिक राज-काज ॥९॥
जिनको तुम त्यागे तुच्छ जान, वे उन्हें मानते हैं महान ।
उनमें ही निशदिन रहें लीन, वे पुण्य-पाप में ही प्रवीन ॥१०॥
प्रभु पुण्य-पाप से पार आप, बिन पहिचाने पावे संताप ।
संतापहरण सुखकरण सार, शुद्धात्मस्वरूपी समयसार ॥११॥

तुम समयसार हम समयसार, सम्पूर्ण आत्मा समयसार ।
जो पहिचानें अपना स्वरूप, वे हो जावें परमात्मरूप ॥१२॥
उनको ना कोई रहे चाह, वे अपना लेवें मोक्ष राह ।
वे करें आत्मा को प्रसिद्ध, वे अल्पकाल में हों सिद्ध ॥१३॥
ॐ ह्रीं श्री श्री महावीरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(दोहा)

भूतकाल प्रभु आपका, वह मेरा वर्तमान ।
वर्तमान जो आपका, वह भविष्य मम जान ॥१४॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्

-●-

यदि तुझे भव दुःख से तिरना हो...

भाई ! प्रातःकाल उठते ही यदि तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-मुनिराज याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री-पुत्र आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है ?

संसार की तरफ या धर्म की तरफ...?

जो परमभक्ति से जिनेन्द्र भगवान का दर्शन नहीं करता तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वीतरागमार्ग नहीं रुचता और तिरने का निमित्त नहीं रुचता; परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है ।

जैसे रुचि होती है, वैसे संबंधों की तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती; इसलिए कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति नहीं उलसती, पूजास्तुति का भाव उत्पन्न नहीं होता; वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है... ।

- गुरुदेव श्री कानजी स्वामी : श्रावकधर्म प्रकाश

श्री सीमन्धर पूजन

स्थापना

(कुण्डलिया)

भव-समुद्र सीमित कियो, सीमंधर भगवान ।
कर सीमित निजज्ञान को, प्रगट्यो पूरण ज्ञान ॥
प्रगट्यो पूरण ज्ञान-वीर्य-दर्शन-सुखकारी ।
समयसार अविकार विमल चैतन्य-विहारी ॥
अंतर्बल से किया प्रबल रिपु-मोह पराभव ।
अरे भवान्तक ! करो अभय हर लो मेरा भव ॥

ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।
अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

(जल)

प्रभुवर तुम जल-से शीतल हो, जल-से निर्मल अविकारी हो ।
मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुमही तो मल-परिहारी हो ॥
तुम सम्यग्ज्ञानजलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो ।
भविजन-मन-मीन-प्राणदायक, भविजन-मन-जलजखिलातेहो ॥
हे ज्ञानपयोनिधि सीमंधर! यह ज्ञान-प्रतीक समर्पित है ।
हो शान्त ज्ञेयनिष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है ॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(चंदन)

चंदन सम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्र-किरण से सुखकर हो ।
भव-ताप निकंदन हे प्रभुवर ! सचमुच तुम ही भव-दुख-हर हो ॥
जल रहा हमारा अन्तःस्तल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से ।
यह शान्त न होगा हे जिनवर, रे! विषयों की मधुशाला से ॥
चिर अंतर्दाह मिटाने को, तुमही मलयागिरि चंदन हो ।
चंदन से चरचूँ चरणांबुज, भवतपहर ! शत शत वंदन हो ॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा ।

(अक्षत)

प्रभु! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ।
क्षत-विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ॥
अक्षत का अक्षत-संबल ले, अक्षत-साम्राज्य लिया तुमने।
अक्षत-विज्ञान दिया जग को, अक्षत-ब्रह्माण्ड किया तुमने॥
मैं केवल अक्षत अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया।
निर्वाण-शिला के संगम-सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

(पुष्प)

तुम सुरभित ज्ञान-सुमन हो प्रभु, नहीं राग-द्वेष दुर्गन्ध कहीं।
सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी संबंध नहीं॥
निज अंतर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से।
चैतन्य-विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से॥
सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पवेलि से यह लाया।
इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच-चरण में ले लाया॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

(नैवेद्य)

आनंद रसामृत के द्रह हो, नीरस जड़ता का दान नहीं।
तुम मुक्त क्षुधा के वेदन से, षट्स का नाम-निशान नहीं॥
विध-विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शांत हुई मेरी।
आनंद सुधारस निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी॥
चिर-तृप्ति-प्रदायी व्यंजन से, हो दूर क्षुधा के अंजन ये।
क्षुत्पीड़ा कैसे रह लेगी ? जब पाये नाथ निरंजन ये॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(दीप)

चिन्मय-विज्ञान-भवन अधिपति, तुम लोकालोक प्रकाशक हो।
कैवल्य-किरण से ज्योतित प्रभु! तुम महामोहतम नाशक हो॥
तुम हो प्रकाश के पुंजनाथ! आवरणों की परछाँह नहीं।
प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं॥

ले आया दीपक चरणों में, रे! अंतर आलोकित कर दो।
प्रभु तेरे मेरे अन्तर को, अविलंब निरंतर से भर दो॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

(धूप)

धू-धू जलती दुख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगतीतल है।
बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है॥
यह धूम धूमरी खा-खाकर, उड़ रहा गगन की गलियों में।
अज्ञानतमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंग-रलियों में॥
संदेश धूम का तात्त्विक प्रभु, तुम हुए उर्ध्वगामी जग से।
प्रगटे दशांग प्रभुवर तुम को, अंतःदशांग की सौरभ से॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

(फल)

शुभ-अशुभ वृत्ति एकांत दुःख, अत्यंत मलिन संयोगी है।
अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है॥
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य-सदन के आँगन में।
चंचल छाया की माया-सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में॥
तेरी फल-पूजा का फल प्रभु! हों शांत शुभाशुभ ज्वालायें।
मधुकल्प फलों सी जीवन में प्रभु! शांति लतायें छा जावें॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

(अर्घ्य)

निर्मल जल-सा प्रभु निज स्वरूप, पहिचान उसी में लीन हुए।
भव-ताप उतरने लगा तभी, चंदन-सी उठी हिलोर हिये॥
अविराम-भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति-प्रसून लगे खिलने।
क्षुत-तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य-प्रदीप लगा जलने॥
मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए।
फल हुआ प्रभो! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन स्वस्थ हुए॥
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

(दोहा)

वैदेही हो देह में, अतः विदेही नाथ ।
सीमंधर निज सीम में, शाश्वत करो निवास ॥१॥
श्री जिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहंत ।
वीतराग सर्वज्ञ श्री, सीमंधर भगवंत ॥२॥

हे ज्ञानस्वभावी सीमंधर, तुम हो असीम आनंदरूप ।
अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्यभूष ॥३॥
मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अति प्रचंड ।
हो स्वयं अखंडित कर्म-शत्रु को, किया आपने खंड-खंड ॥४॥
गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान ।
आतम-स्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान ॥५॥
तुम दर्शनज्ञान-दिवाकर हो, वीरज मंडित आनंदकंद ।
तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्णचन्द ॥६॥
पूर्व विदेह में हे जिनवर, हो आप आज भी विद्यमान ।
हो रहा दिव्य उपदेश, भव्य पा रहे नित्य अध्यात्मज्ञान ॥७॥
श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव को मिला आपसे दिव्यज्ञान ।
आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान ॥८॥
पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार ।
समझाया उनने समयसार, हो गये स्वयं वे समयसार ॥९॥
दे गये हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार ।
है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार ॥१०॥
मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परिणति हो जावे समयसार ।
है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जावे समयसार ॥११॥

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये जयमालार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(सौरठा)

समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं ।
महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी ॥१२॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्

-●-

बारह भावना

(हरिगीतिका)

१. अनित्यभावना

भोर की स्वर्णिम छटा सम क्षणिक सब संयोग हैं ।
पद्मपत्रों पर पड़े जलबिन्दु सम सब भोग हैं ॥
सान्ध्य दिनकर लालिमा सम लालिमा है भाल की ।
सब पर पड़ी मनहूस छाया विकट काल कराल की ॥१॥
अंजुली-जल सम जवानी क्षीण होती जा रही ।
प्रत्येक पल जर्जर जरा नजदीक आती जा रही ॥
काल की काली घटा प्रत्येक क्षण मंडरा रही ।
किन्तु पल-पल विषय-तृष्णा तरुण होती जा रही ॥२॥
दुखमयी पर्याय क्षणभंगुर सदा कैसे रहे ?
अमर है ध्रुव आतमा वह मृत्यु को कैसे वरे ?
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है ।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥३॥
संयोग क्षणभंगुर सभी पर आतमा ध्रुवधाम है ।
पर्याय लयधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है ॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है ।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥४॥

२. अशरणभावना

छिद्रमय हो नाव डगमग चल रही मझधार में ।
दुर्भाग्य से जो पड़ गई दुर्दैव के अधिकार में ॥
तब शरण होगा कौन जब नाविक डुबा दे धार में ।
संयोग सब अशरण शरण कोई नहीं संसार में ॥५॥

जिन्दगी इक पल कभी कोई बड़ा नहीं पाएगा ।
 रस रसायन सुत सुभट कोई बचा नहीं पाएगा ॥
 सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में ।
 जीवन-मरण अशरण शरण कोई नहीं संसार में ॥६॥
 निज आत्मा निश्चय-शरण व्यवहार से परमात्मा ।
 जो खोजता पर की शरण वह आतमा बहिरातमा ॥
 ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है ।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥७॥
 संयोग हैं अशरण सभी निज आतमा ध्रुवधाम है ।
 पर्याय व्ययधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है ॥
 इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है ।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥८॥

३. संसारभावना

दुखमय निरर्थक मलिन जो सम्पूर्णतः निस्सार है ।
 जगजालमय गति चार में संसरण ही संसार है ॥
 भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण संसार का आधार है ।
 संयोगजा चिद्वृत्तियाँ ही वस्तुतः संसार है ॥९॥
 संयोग हों अनुकूल फिर भी सुख नहीं संसार में ।
 संयोग को संसार में सुख कहें बस व्यवहार में ॥
 दुख-द्वन्द हैं चिद्वृत्तियाँ संयोग ही जगफन्द हैं ।
 निज आतमा बस एक ही आनन्द का रसकन्द है ॥१०॥
 मंथन करे दिन-रात जल घृत हाथ में आवे नहीं ।
 रज-रेत पेले रात-दिन पर तेल ज्यों पावे नहीं ॥
 सद्भाग्य बिन ज्यों संपदा मिलती नहीं व्यापार में ।
 निज आतमा के भान बिन त्यों सुख नहीं संसार में ॥११॥

संसार है पर्याय में निज आतमा ध्रुवधाम है ।
 संसार संकटमय परन्तु आतमा सुखधाम है ॥
 सुखधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है ।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥१२॥

४. एकत्वभावना

आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा ।
 सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा ॥
 जीवन-मरण सुख-दुख सभी भोगे अकेला आतमा ।
 शिव-स्वर्ग नर्क-निगोद में जावे अकेला आतमा ॥१३॥
 इस सत्य से अनभिज्ञ ही रहते सदा बहिरातमा ।
 पहिचानते निजतत्त्व जो वे ही विवेकी आतमा ॥
 निज आतमा को जानकर निज में जमे जो आतमा ।
 वे भव्यजन बन जायेंगे पर्याय में परमात्मा ॥१४॥
 सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में ।
 संयोग हैं सर्वत्र पर साथी नहीं संसार में ॥
 संयोग की आराधना संसार का आधार है ।
 एकत्व की आराधना आराधना का सार है ॥१५॥
 एकत्व ही शिव सत्य है सौन्दर्य है एकत्व में ।
 स्वाधीनता सुख शान्ति का आवास है एकत्व में ॥
 एकत्व को पहिचानना ही भावना का सार है ।
 एकत्व की आराधना आराधना का सार है ॥१६॥

५. अन्यत्वभावना

जिस देह में आतम रहे वह देह भी जब भिन्न है ।
 तब क्या करें उनकी कथा जो क्षेत्र से भी अन्य हैं ॥

हैं भिन्न परिजन भिन्न पुरजन भिन्न ही धन-धाम हैं।
 हैं भिन्न भगिनी भिन्न जननी भिन्न ही प्रिय वाम है ॥१७॥
 अनुज-अग्रज सुत-सुता प्रिय सुहृदजन सब भिन्न हैं।
 ये शुभ अशुभ संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भी अन्य हैं ॥
 स्वोन्मुख चिद्वृत्तियाँ भी आतमा से अन्य हैं।
 चैतन्यमय ध्रुव आतमा गुणभेद से भी भिन्न है ॥१८॥
 गुणभेद से भी भिन्न है आनन्द का रसकन्द है।
 है संग्रहालय शक्तियों का ज्ञान का घनपिण्ड है ॥
 वह साध्य है आराध्य है आराधना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना का एक ही आधार है ॥१९॥
 जो जानते इस सत्य को वे ही विवेकी धन्य हैं।
 ध्रुवधाम के आराधकों की बात भी कुछ अन्य है ॥
 अन्यत्व को पहिचानना ही भावना का सार है।
 एकत्व की आराधना आराधना का सार है ॥२०॥

६. अशुचिभावना

जिस देह को निज जानकर नित रम रहा जिस देह में।
 जिस देह को निज मानकर रच-पच रहा जिस देह में ॥
 जिस देह में अनुराग है एकत्व है जिस देह में।
 क्षण एक भी सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में ॥२१॥
 क्या-क्या भरा उस देह में अनुराग है जिस देह में।
 उस देह का क्या रूप है आतम रहे जिस देह में ॥
 मलिन मल पल रुधिर कीकस वसा का आवास है।
 जड़रूप है तन किन्तु इसमें चेतना का वास है ॥२२॥
 चेतना का वास है दुर्गन्धमय इस देह में।
 शुद्धात्मा का वास है इस मलिन कारागोह में ॥

इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयेगी।
 वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायेगी ॥२३॥
 किन्तु रह इस देह में निर्मल रहा जो आतमा।
 वह ज्ञेय है श्रद्धेय है बस ध्येय भी वह आतमा ॥
 उस आतमा की साधना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥२४॥

७. आस्रवभावना

संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भ्रमकूप आस्रवरूप हैं।
 दुखरूप हैं दुखकरण हैं अशरण मलिन जड़रूप हैं ॥
 संयोग विरहित आतमा पावन शरण चिद्रूप है।
 भ्रमरोगहर संतोषकर सुखकरण है सुखरूप है ॥२५॥
 इस भेद से अनभिज्ञता मद मोह मदिरा पान है।
 इस भेद को पहिचानना ही आत्मा का भान है ॥
 इस भेद की अनभिज्ञता संसार का आधार है।
 इस भेद की नित भावना ही भवजलधि का पार है ॥२६॥
 इस भेद से अनभिज्ञ ही रहते सदा बहिरात्मा।
 जो जानते इस भेद को वे ही विवेकी आतमा ॥
 यह जानकर पहिचानकर निज में जमे जो आतमा।
 वे भव्यजन बन जायेंगे पर्याय में परमात्मा ॥२७॥
 हैं हेय आस्रवभाव सब श्रद्धेय निज शुद्धात्मा।
 प्रिय ध्येय निश्चय ज्ञेय केवल श्रेय निज शुद्धात्मा ॥
 इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥२८॥

८. संवरभावना

देहदेवल में रहे पर देह से जो भिन्न है।
 है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है ॥

गुणभेद से भी भिन्न है पर्याय से भी पार है।
 जो साधकों की साधना का एक ही आधार है ॥२९॥
 मैं हूँ वही शुद्धात्मा चैतन्य का मार्तण्ड हूँ।
 आनन्द का रसकन्द हूँ मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ ॥
 मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
 बए एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ ॥३०॥
 यह जानना पहिचानना ही ज्ञान है श्रद्धान है।
 केवल स्वयं की साधना आराधना ही ध्यान है ॥
 यह ज्ञान यह श्रद्धान बस यह साधना आराधना।
 बस यही संवरतत्त्व है बस यही संवरभावना ॥३१॥
 इस सत्य को पहिचानते वे ही विवेकी धन्य हैं।
 ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है ॥
 शुद्धात्मा को जानना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥३२॥

९. निर्जराभावना

शुद्धात्मा की रुची संवर साधना है निर्जरा।
 ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना है निर्जरा ॥
 निर्मम दशा है निर्जरा निर्मल दशा है निर्जरा।
 निज आतमा की ओर बढ़ती भावना है निर्जरा ॥३३॥
 वैराग्यजननी राग की विध्वंसनी है निर्जरा।
 है साधकों की संगिनी आनन्दजननी निर्जरा ॥
 तप-त्याग की सुख-शान्ति की विस्तारनी है निर्जरा।
 संसार पारावार पार उतारनी है निर्जरा ॥३४॥
 निज आतमा के भान बिन है निर्जरा किस काम की।
 निज आतमा के ध्यान बिन है निर्जरा बस नाम की ॥

है बंध की विध्वंसनी आराधना ध्रुवधाम की।
 यह निर्जरा बस एक ही आराधकों के काम की ॥३५॥
 इस सत्य को पहिचानते वे ही विवेकी धन्य हैं।
 ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है ॥
 शुद्धात्मा की साधना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥३६॥

१०. लोकभावना

निज आतमा के भान बिन षट्द्रव्यमय इस लोक में।
 भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण करता रहा त्रैलोक्य में ॥
 करता रहा नित संसरण जगजालमय गति चार में।
 समभाव बिन सुख रञ्च भी पाया नहीं संसार में ॥३७॥
 नर नर्क स्वर्ग निगोद में परिभ्रमण ही संसार है।
 षट्द्रव्यमय इस लोक में बस आतमा ही सार है ॥
 निज आतमा ही सार है स्वाधीन है सम्पूर्ण है।
 आराध्य है सत्यार्थ है परमार्थ है परिपूर्ण है ॥३८॥
 निष्काम है निष्क्रोध है निर्मान है निर्मोह है।
 निर्द्वन्द्व है निर्दण्ड है निर्ग्रन्थ है निर्दोष है ॥
 निर्मूढ़ है नीराग है आलोक है चिल्लोक है।
 जिसमें झलकते लोक सब वह आतमा ही लोक है ॥३९॥
 निज आतमा ही लोक है निज आतमा ही सार है।
 आनन्दजननी भावना का एक ही आधार है ॥
 यह जानना पहिचानना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥४०॥

११. बोधिदुर्लभभावना

इन्द्रियों के भोग एवं भोगने की भावना।
 हैं सुलभ सब दुर्लभ नहीं है इन सभी का पावना ॥
 है महादुर्लभ आत्मा को जानना पहिचानना।
 है महादुर्लभ आत्मा की साधना आराधना ॥४१॥
 नर देह उत्तम देश पूरण आयु शुभ आजीविका।
 दुर्वासना की मंदता परिवार की अनुकूलता ॥
 सत् सज्जनों की संगति सद्धर्म की आराधना।
 है उत्तरोत्तर महादुर्लभ आत्मा की साधना ॥४२॥
 जब मैं स्वयं ही ज्ञेय हूँ जब मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ।
 जब मैं स्वयं ही ध्येय हूँ जब मैं स्वयं ही ध्यान हूँ ॥
 जब मैं स्वयं आराध्य हूँ जब मैं स्वयं आराधना।
 जब मैं स्वयं ही साध्य हूँ जब मैं स्वयं ही साधना ॥४३॥
 जब जानना पहिचानना निज साधना आराधना।
 ही बोधि है तो सुलभ ही है बोधि की आराधना ॥
 निज तत्त्व को पहिचानना ही भावना का सार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥४४॥

१२. धर्मभावना

निज आत्मा को जानना पहिचानना ही धर्म है।
 निज आत्मा की साधना आराधना ही धर्म है ॥
 शुद्धात्मा की साधना आराधना का मर्म है।
 निज आत्मा की ओर बढ़ती भावना ही धर्म है ॥४५॥
 कामधेनु कल्पतरु संकटहरण बस नाम के।
 रतन चिन्तामणी भी हैं चाह बिन किस काम के ॥

भोगसामग्री मिले अनिवार्य है पर याचना।
 है व्यर्थ ही इन कल्पतरु चिन्तामणी की चाहना ॥४६॥
 धर्म ही वह कल्पतरु है नहीं जिसमें याचना।
 धर्म ही चिन्तामणी है नहीं जिसमें चाहना ॥
 धर्मतरु से याचना बिन पूर्ण होती कामना।
 धर्म चिन्तामणी है शुद्धात्मा की साधना ॥४७॥
 शुद्धात्मा की साधना अध्यात्म का आधार है।
 शुद्धात्मा की भावना ही भावना का सार है ॥
 वैराग्यजननी भावना का एक ही आधार है।
 ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥४८॥

-●-

आचार्य भगवन्तों का मात्र यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सन्देश है कि सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करो, आराधना करो; उसे ही जानो, पहिचानो; उसी में जम जावो, उसमें ही रम जावो, उसमें ही समा जावो, इससे ही अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति होगी - परमसुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पर को छोड़ने के लिए, पर से छूटने के लिए इससे भिन्न कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर तो छूटे हुए ही हैं। वे तेरे कभी हुए ही नहीं हैं; तूने ही उन्हें अज्ञानवश अपना मान रखा था, अपना जान रखा था और उनसे राग कर व्यर्थ ही दुःखी हो रहा था। तू अपने में मगन हुआ तो वे छूटे हुए ही हैं।

- बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ७०-७१

कुन्दकुन्दशतक पद्यानुवाद

(हरिगीत)

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
 वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥
 अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण ।
 सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥२॥
 सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
 सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥३॥
 निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है ।
 निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है ॥४॥
 निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आतमा ।
 निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा ॥५॥
 मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
 ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥६॥
 चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
 जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥७॥
 जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
 उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥८॥
 जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो ।
 जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥९॥
 यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
 हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥१०॥
 चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
 ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ॥११॥

‘यह नृपति है’ – यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
 अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ॥१२॥
 यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिये ।
 अति प्रीति से अनुचरण करिये प्रीति से पहिचानिये ॥१३॥
 जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
 वे कर्मईधन-दहन निज शुद्धात्मा को ध्यावते ॥१४॥
 मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर ।
 निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार कर ॥१५॥
 जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
 रागादि का परिहार चारित-यही मुक्तिमार्ग है ॥१६॥
 तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
 जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ॥१७॥
 जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।
 पुण्य-पाप का परिहार चारित्र यही जिनवर ने कहा ॥१८॥
 दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
 संयम रहित तप निरर्थक आकाश-कुसुम समान हो ॥१९॥
 दर्शन सहित हो वेश चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
 संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ॥२०॥
 परमार्थ से हो दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
 सब बालतप है बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥२१॥
 व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
 पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ती करें ॥२२॥
 जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
 श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ॥२३॥
 जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है ।
 पर नियतनय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥२४॥

नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत है।
 सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ॥२५॥
 मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का।
 यह जान लो हे भव्यजन! इससे अधिक अब कहें क्या ॥२६॥
 वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं वे शूर नर पण्डित वही।
 दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ॥२७॥
 चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा।
 तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥२८॥
 शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय।
 भूतार्थ की ही शरण गह यह आत्मा सम्यक् लहे ॥२९॥
 अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को।
 बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥३०॥
 देह-चेतन एक हैं - यह वचन है व्यवहार का।
 ये एक हो सकते नहीं - यह कथन है परमार्थ का ॥३१॥
 दृग ज्ञान चारित जीव के हैं - यह कहा व्यवहार से।
 ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध हैं परमार्थ से ॥३२॥
 जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में।
 जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ॥३३॥
 इस ही तरह परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की।
 निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ति करें निर्वाण की ॥३४॥
 सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा।
 हे कानवालो सुनो! दर्शन-हीन वंदन योग्य ना ॥३५॥
 जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।
 वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ॥३६॥
 दृग-भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना।
 हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट पर दृग-भ्रष्ट को निर्वाण ना ॥३७॥

जो लाज गौरव और भयवश पूजते दृग-भ्रष्ट को।
 की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो ॥३८॥
 चाहें नमन दृगवंत से पर स्वयं दर्शनहीन हों।
 है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों ॥३९॥
 यद्यपि करें वे उग्र तप शत-सहस-कोटि वर्ष तक।
 पर रतनत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व-विरहित साधु सब ॥४०॥
 जिसतरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना।
 बस उसतरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना ॥४१॥
 असंयमी न वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी।
 दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ॥४२॥
 ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की।
 कोई करे क्यों वंदना गुणहीन श्रावक-साधु की ॥४३॥
 मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
 यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानी हैं तबतक सभी ॥४४॥
 करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।
 जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सद्ज्ञान को ॥४५॥
 मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन! ॥४६॥
 निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
 तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं? ॥४७॥
 निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
 वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं? ॥४८॥
 मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥४९॥
 सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही।
 जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं ॥५०॥

सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही ।
 कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं? ॥५१॥
 मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
 यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो? ॥५२॥
 मारो न मारो जीव को हो बन्ध अध्यवसान से ।
 यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥५३॥
 प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से ।
 तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥५४॥
 उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् सत् द्रव्य का लक्षण कहा ।
 पर्याय-गुणमय द्रव्य है - यह वचन जिनवर ने कहा ॥५५॥
 पर्याय बिन ना द्रव्य हो ना द्रव्य बिन पर्याय ही ।
 दोनों अनन्य रहे सदा - यह बात श्रमणों ने कही ॥५६॥
 द्रव्य बिन गुण हों नहीं गुण बिना द्रव्य नहीं बने ।
 गुण द्रव्य अव्यतिरिक्त हैं - यह कहा जिनवर देव ने ॥५७॥
 उत्पाद हो न अभाव का ना नाश हो सद्भाव में ।
 उत्पाद-व्यय करते रहें सब द्रव्य गुण-पर्याय में ॥५८॥
 असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।
 सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥५९॥
 पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
 असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥६०॥
 पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
 फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ? ॥६१॥
 अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
 परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ! ॥६२॥
 डोरा सहित सुड़ नहीं खोती गिरे चाहे वन-भवन ।
 संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥६३॥

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से ।
 दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥६४॥
 जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित ।
 जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ॥६५॥
 स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं ।
 भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ॥६६॥
 जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहीं जानते ।
 वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहीं जानते ॥६७॥
 व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं ।
 दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आत्मधर्म हैं ॥६८॥
 चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
 दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ॥६९॥
 प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आत्मा ।
 पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आत्मा ॥७०॥
 शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण ।
 शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ॥७१॥
 कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में ।
 शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥७२॥
 भावलिंगी सुखी होते द्रव्यलिंगी दुःख लहें ।
 गुण-दोष को पहिचान कर सब भाव से मुनि पद गहें ॥७३॥
 मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।
 आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥७४॥
 जिनभावना से रहित मुनि भव में भ्रमं चिरकाल तक ।
 हों नग्न पर हों बोधि-विरहित दुःख लहें चिरकाल तक ॥७५॥
 वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें ।
 पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥७६॥

नारकी तिर्यच आदिक देह से सब नग्न हैं।
 सच्चे श्रमण तो हैं वही जो भाव से भी नग्न हैं ॥७७॥
 जन्मते शिशुवत् अकिंचन नहीं तिल-तुष हाथ में।
 किंचित् परिग्रह साथ हो तो श्रमण जाँय निगोद में ॥७८॥
 जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से।
 वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥७९॥
 राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें।
 सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥८०॥
 श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो।
 हीन विनयाचार से वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥८१॥
 पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिला वर्ग में।
 रत ज्ञान-दर्शन-चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग में ॥८२॥
 धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो।
 समभाव को पहिचानिये द्रव्यलिंग से क्या कार्य हो ॥८३॥
 विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधें कर्म को।
 जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥८४॥
 परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग्न नहीं जानते।
 अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ॥८५॥
 सुशील है शुभकर्म और अशुभ कर्म कुशील है।
 संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं? ॥८६॥
 ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती।
 इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥८७॥
 दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो।
 दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥८८॥
 पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है - जो न मानें बात ये।
 संसार-सागर में भ्रमें मद-मोह से आच्छन्न वे ॥८९॥

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है।
 है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥९०॥
 शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारिके।
 जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम है ॥९१॥
 सद्ज्ञान-दर्शन-चरित ही है 'नियम' जानो नियम से।
 विपरीत का परिहार होता 'सार' इस शुभ वचन से ॥९२॥
 जैनशासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल।
 है मार्ग मोक्ष-उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल ॥९३॥
 हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
 अतएव वर्जित वाद है निज-पर समय के साथ भी ॥९४॥
 ज्यों निधी पाकर निज वतन में गुप्त रह जन भोगते।
 त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते ॥९५॥
 यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।
 छोड़ो न भक्ती वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ॥९६॥
 जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ती निवृत्ती की करें।
 वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें ॥९७॥
 मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ति करें गुणभेद से।
 वह परमभक्ति कही है जिनसूत्र में व्यवहार से ॥९८॥
 द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को।
 वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ॥९९॥
 सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी।
 सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥१००॥
 है ज्ञान दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है।
 हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ॥१०१॥

शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद

(हरिगीत)

परद्रव्य को परित्याग पाया ज्ञानमय निज आतमा ।
 शतबार उनको हो नमन निष्कर्म जो परमातमा ॥१॥
 परद्रव्य में रत बंधे और विरक्त शिवरमणी वरें ।
 जिनदेव का उपदेश बंध-अबंध का संक्षेप में ॥२॥
 परद्रव्य से हो दुर्गती निजद्रव्य से होती सुगति ।
 यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥३॥
 नित नियम से निजद्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं ।
 सम्यक्त्व परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ॥४॥
 किन्तु जो परद्रव्य रत वे श्रमण मिथ्यादृष्टि हैं ।
 मिथ्यात्व परिणत वे श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों से बंधे ॥५॥
 जो आत्मा से भिन्न चित्ताचित्त एवं मिश्र हैं ।
 उन सर्वद्रव्यों को अरे परद्रव्य जिनवर ने कहा ॥६॥
 दुष्टाष्ट कर्मों से रहित जो ज्ञानविग्रह शुद्ध है ।
 वह नित्य अनुपम आतमा स्वद्रव्य जिनवर ने कहा ॥७॥
 निजद्रव्य रत यह आतमा ही योगि चारित्रवंत है ।
 यह ही बने परमातमा परमार्थनय का कथन यह ॥८॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमे ।
 बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥९॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
 पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥१०॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
 बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥११॥

निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
 है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ॥१२॥
 बस आतमा ही आतमा का परीग्रह - यह जानकर ।
 'परद्रव्य मेरा है' - बताओ कौन बुध ऐसा कहे ? ॥१३॥
 यदि परीग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे ।
 पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ॥१४॥
 छिद जाय या ले जाय कोई अथवा प्रलय को प्राप्त हो ।
 जावे चला चाहे जहाँ पर परीग्रह मेरा नहीं ॥१५॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को ।
 है परीग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे ॥१६॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को ।
 है परिग्रह न अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे ॥१७॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को ।
 है परिग्रह न असन का वह असन का ज्ञायक रहे ॥१८॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को ।
 है परिग्रह न पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे ॥१९॥
 इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को ।
 सर्वत्र ही वह निरालंबी नियत ज्ञायकभाव है ॥२०॥
 उदयकर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहे ।
 किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥२१॥
 पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं ।
 किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥२२॥
 अज्ञानमोहितमती बहुविध भाव से संयुक्त जिय ।
 अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहें ॥२३॥
 सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह ।
 पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ? ॥२४॥

जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब ।
 ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं - यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥
 दूध-पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना ।
 उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं ॥२६॥
 पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जगजन कहें ।
 पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें ॥२७॥
 उस ही तरह रंग देखकर जड़कर्म अर नोकर्म का ।
 जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का ॥२८॥
 इस ही तरह रस गंध तन संस्थान आदिक जीव के ।
 व्यवहार से हैं - कहें वे जो जानते परमार्थ को ॥२९॥
 वर्णादिमय ही जीव है तुम यदी मानो इसतरह ।
 तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह ? ॥३०॥
 शुध जीव के रस गंध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना ।
 यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना ॥३१॥
 ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के ।
 प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के ॥३२॥
 ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं ।
 अर नहीं है अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी ॥३३॥
 योग के स्थान नहिं अर बंध के स्थान ना ।
 उदय के स्थान नहिं अर मार्गणा स्थान ना ॥३४॥
 थितिवंध के स्थान नहिं संक्लेश के स्थान ना ।
 संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना ॥३५॥
 जीव के स्थान नहिं गुणथान के स्थान ना ।
 क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ॥३६॥
 हैं हेय ये परभाव सब ही क्योंकि ये परद्रव्य हैं ।
 आदेय अन्तस्तत्त्व आतम क्योंकि वह स्वद्रव्य है ॥३७॥

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
 जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥३८॥
 मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
 ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥३९॥
 मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
 है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥४०॥
 धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
 है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥४१॥
 ज्ञायकस्वभावी आतमा इसतरह ज्ञानी जानते ।
 निजतत्त्व को पहिचान कर कर्मोदयों को छोड़ते ॥४२॥
 सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आतमा सिध शुद्ध है ।
 यह कहा जिनवर देव ने तुम स्वयं केवल ज्ञानमय ॥४३॥
 शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४४॥
 शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४५॥
 रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४६॥
 वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४७॥
 गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४८॥
 रस ज्ञान नहीं है क्योंकि कुछ भी रस जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही अन्य रस अरु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४९॥
 स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५०॥

कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५१॥
 धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५२॥
 अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५३॥
 काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५४॥
 आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५५॥
 अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे।
 इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥५६॥
 नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है।
 है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना ॥५७॥
 ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी।
 सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान है - यह बुध कहें ॥५८॥
 इस ज्ञानगुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें।
 यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो ॥५९॥
 इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो।
 बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो ॥६०॥
 परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुद्ध मुनि केवली।
 इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनि ॥६१॥
 निज आत्मा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा।
 अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी आतमा ॥६२॥
 निर्ग्रथ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है।
 निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है ॥६३॥

निर्दण्ड है निर्द्वन्द है यह निरालम्बी आतमा।
 निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा ॥६४॥
 ज्ञानी विचारें इसतरह यह चिन्तवन उनका सदा।
 केवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख-शक्तिस्वभावी हूँ सदा ॥६५॥
 ज्ञानी विचारें देखे-जाने जो सभी को मैं वही।
 जो ना ग्रहे परभाव को निज भाव को छोड़े नहीं ॥६६॥
 गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं।
 हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी वही ॥६७॥
 शुद्ध अविनाशी अतीन्द्रिय अदेह निर्मल सिद्ध ज्यों।
 लोकाग्र में जैसे विराजे जीव हैं भवलीन त्यों ॥६८॥
 कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का।
 पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥६९॥
 अबद्ध है या बद्ध है पर यह सभी नयपक्ष हैं।
 नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥७०॥
 जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे।
 उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥७१॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥७२॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥७३॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥७४॥
 जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में।
 जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ॥७५॥
 व्यवहार से यह आत्मा घट पट रथादिक द्रव्य का।
 इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ॥७६॥

परद्रव्यमय हो जाय यदि परद्रव्य में कुछ भी करे।
 परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ॥७७॥
 ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे।
 कर्ता कहा तत्सूत्रपरिणत योग अर उपयोग का ॥७८॥
 ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।
 उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं ॥७९॥
 निजकृत शुभाशुभ भाव का कर्ता कहा है आतमा।
 वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा ॥८०॥
 जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में।
 तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ॥८१॥
 कुछ भी करे ना जीव पुद्गल द्रव्य के गुण-द्रव्य में।
 जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें? ॥८२॥
 बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में।
 करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से ॥८३॥
 रण में लड़े भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया।
 बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किये व्यवहार से ॥८४॥
 ग्रहे बांधे परिणामावे करे या पैदा करे।
 पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है ॥८५॥
 गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से।
 त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से ॥८६॥
 जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने।
 ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥८७॥
 ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय।
 बस इसलिए सदज्ञानियों के भाव हों सब ज्ञानमय ॥८८॥
 अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय।
 बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥८९॥

हे भव्यजन तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा।
 निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥९०॥
 इसलिए यह शुद्धातमा पर जीव और अजीव से।
 कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता ॥९१॥
 चतुर्गति से मुक्त हो यदि चाहते हो सुख सदा।
 तो करो निर्मल भाव से निज आतमा की भावना ॥९२॥
 स्वानुभूति गम्य है जो नियत थिर निजभाव ही।
 अपद पद सब छोड़ ग्रह वह नित्य एक स्वभाव ही ॥९३॥
 ज्ञायकस्वभावी चेतनामय जीव जिनवर ने कहा।
 तुम जानना उस जीव को ही कर्म क्षय का हेतु भी ॥९४॥
 रागादि विरहित आतमा रत आतमा ही धर्म है।
 भव तरण-तारण धर्म यह जिनवर कथन का मर्म है ॥९५॥
 ज्ञान दर्शन मय निजातम को सदा जो ध्यावते।
 अत्यल्प काल स्वकाल में वे सर्वकर्म विमुक्त हों ॥९६॥
 पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा।
 जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ॥९७॥
 इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी।
 ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ॥९८॥
 अरि-मित्रजन धन-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।
 इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ॥९९॥
 यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमातमा।
 दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा ॥१००॥
 निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने।
 निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ॥१०१॥

समयसार पद्यानुवाद

(हरिगीत)

रंगभूमि एवं जीव-अजीव अधिकार

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-परहित ।
 यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥१॥
 सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्वसमय ।
 जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय ॥२॥
 एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
 विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ॥३॥
 सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा ।
 पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥४॥
 निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन ।
 पर नहीं करना छलग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥५॥
 न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।
 इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥६॥
 दृग ज्ञान चारित जीव के हैं - यह कहा व्यवहार से ।
 ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥७॥
 अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
 बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥८॥
 श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा ।
 श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥९॥
 जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली ।
 सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली ॥१०॥
 शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
 भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ॥११॥

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।
 जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं ॥१२॥
 चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
 तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥१३॥
 अबद्धपुद्गल अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को ।
 संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ॥१४॥
 अबद्धपुद्गल अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को ।
 अपदेश एवं शान्त वह सम्पूर्ण जिनशासन लहे ॥१५॥
 चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
 ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ॥१६॥
 'यह नृपति है' - यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
 अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ॥१७॥
 यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए ।
 अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए ॥१८॥
 मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी ।
 यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी ॥१९॥
 सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब पर द्रव्य ये ।
 हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ वे ही ॥२०॥
 हम थे सभी के या हमारे थे सभी गत काल में ।
 हम होंगे उनके हमारे वे अनागत काल में ॥२१॥
 ऐसी असंभव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें ।
 भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें ॥२२॥
 अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय ।
 अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहें ॥२३॥
 सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह ।
 पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ? ॥२४॥

जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब ।
 ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं – यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥
 यदि देह ना हो जीव तो तीर्थकरों का स्तवन ।
 सब असत् होगा इसलिए बस देह ही है आतमा ॥२६॥
 ‘देह-चेतन एक हैं’ – यह वचन है व्यवहार का ।
 ‘ये एक हो सकते नहीं’ – यह कथन है परमार्थ का ॥२७॥
 इस आतमा से भिन्न पुद्गल रचित तन का स्तवन ।
 कर मानना कि हो गया है केवली का स्तवन ॥२८॥
 परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन ।
 केवलि-गुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन ॥२९॥
 वर्णन नहीं है नगरपति का नगर-वर्णन जिसतरह ।
 केवली-वंदन नहीं है देह वंदन उसतरह ॥३०॥
 जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
 वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा ॥३१॥
 मोह को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
 जितमोह जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥३२॥
 सब मोह क्षय हो जाय जब जितमोह सम्यक्श्रमण का ।
 तब क्षीणमोही जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥३३॥
 परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे ।
 तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥
 जिसतरह कोई पुरुष पर को जानकर पर परित्यजे ।
 बस उसतरह पर जानकर परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥
 मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
 है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥३६॥
 धर्मादिक मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
 है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥३७॥

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
 ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥३८॥
 परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जाने नहीं ।
 अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें ॥३९॥
 अध्यवसानगत जो तीव्रता या मंदता वह जीव है ।
 पर अन्य कोई यह कहे नोकर्म ही बस जीव है ॥४०॥
 मन्द अथवा तीव्रतम जो कर्म का अनुभाग है ।
 वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है ॥४१॥
 द्रव कर्म का अर जीव का सम्मिलन ही बस जीव है ।
 अथवा कहे कोइ करम का संयोग ही बस जीव है ॥४२॥
 बस इसतरह दुर्बुद्धिजन परवस्तु को आतम कहें ।
 परमार्थवादी वे नहीं परमार्थवादी यह कहें ॥४३॥
 ये भाव सब पुद्गल दरव परिणाम से निष्पन्न हैं ।
 यह कहा है जिनदेव ने ‘ये जीव हैं’ – कैसे कहें ॥४४॥
 अष्टविध सब कर्म पुद्गलमय कहे जिनदेव ने ।
 सब कर्म का परिणाम दुःखमय यह कहा जिनदेव ने ॥४५॥
 ये भाव सब हैं जीव के जो यह कहा जिनदेव ने ।
 व्यवहारनय का पक्ष यह प्रस्तुत किया जिनदेव ने ॥४६॥
 सेना सहित नरपती निकले नृप चला ज्यों जन कहें ।
 यह कथन है व्यवहार का पर नृपति उनमें एक है ॥४७॥
 बस उसतरह ही सूत्र में व्यवहार से इन सभी को ।
 जीव कहते किन्तु इनमें जीव तो बस एक है ॥४८॥
 चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
 जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥४९॥
 शुध जीव के रस गंध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना ।
 यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना ॥५०॥

ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के।
 प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के ॥५१॥
 ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं।
 अर नहीं हैं अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी ॥५२॥
 योग के स्थान नहीं अर बंध के स्थान ना।
 उदय के स्थान नहीं अर मार्गणा स्थान ना ॥५३॥
 थितिवंध के स्थान नहीं संक्लेश के स्थान ना।
 संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना ॥५४॥
 जीव के स्थान नहीं गुणथान के स्थान ना।
 क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ॥५५॥
 वर्णादि को व्यवहार से ही कहा जाता जीव के।
 परमार्थ से ये भाव भी होते नहीं हैं जीव के ॥५६॥
 दूध-पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना।
 उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं ॥५७॥
 पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जग-जन कहें।
 पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें ॥५८॥
 उस ही तरह रंग देखकर जड़कर्म अर नोकर्म का।
 जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का ॥५९॥
 इस ही तरह रस गंध तन संस्थान आदिक जीव के।
 व्यवहार से हैं - कहें वे जो जानते परमार्थ को ॥६०॥
 जो जीव हैं संसार में वर्णादि उनके ही कहें।
 जो मुक्त हैं संसार से वर्णादि उनके हैं नहीं ॥६१॥
 वर्णादिमय ही जीव हैं तुम यदी मानो इसतरह।
 तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह ? ॥६२॥
 मानो उन्हें वर्णादिमय जो जीव हैं संसार में।
 तब जीव संसारी सभी वर्णादिमय हो जायेंगे ॥६३॥

यदि लक्षणों की एकता से जीव हों पुद्गल सभी।
 बस इसतरह तो सिद्ध होंगे सिद्ध भी पुद्गलमयी ॥६४॥
 एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं जो नाम नामक कर्म की।
 पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-वादर आदि सब ॥६५॥
 इनकी अपेक्षा कहे जाते जीव के स्थान जो।
 कैसे कहें - 'वे जीव हैं' - जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी ॥६६॥
 पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म वादर आदि सब।
 जड़ देह की है जीव संज्ञा सूत्र में व्यवहार से ॥६७॥
 मोहन-करम के उदय से गुणथान जो जिनवर कहे।
 वे जीव कैसे हो सकें जो नित अचेतन ही कहें ॥६८॥

कर्ताकर्म अधिकार

आतमा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं।
 हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें ॥६९॥
 क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें।
 हो कर्मबंधन इसतरह इस जीव को जिनवर कहें ॥७०॥
 आतमा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब।
 जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब ॥७१॥
 इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर।
 आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर ॥७२॥
 मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
 थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्रवों का क्षय करूँ ॥७३॥
 ये सभी जीवनिबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
 दुःखरूप दुःखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें ॥७४॥
 करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।
 जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हों सद्ज्ञान को ॥७५॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
 बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७६॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
 बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७७॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
 पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७८॥
 परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
 इस ही तरह पुद्गल दरव निजभाव से ही परिणमें ॥७९॥
 जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमें।
 पुद्गल करम के निमित्त से यह आतमा भी परिणमें ॥८०॥
 आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे।
 पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित्त हैं ॥८१॥
 बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा।
 अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्ता नहीं ॥८२॥
 हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा।
 निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥८३॥
 अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा।
 व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यात्मा ॥८४॥
 पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा।
 द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों संमत न जो जिनधर्म में ॥८५॥
 यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे।
 तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे ॥८६॥
 मिथ्यात्व-अविरति-जोग-मोहाज्ञान और कषाय हैं।
 ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविधप्रकार हैं ॥८७॥
 मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं।
 मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं ॥८८॥

मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से।
 जानों उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये ॥८९॥
 यद्यपी उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है।
 जिसरूप परिणत हो त्रिविध वह उसी का कर्ता बने ॥९०॥
 आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्ता बने।
 बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमें ॥९१॥
 पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे।
 अज्ञानमय वह आतमा पर करम का कर्ता बने ॥९२॥
 पररूप ना निज को करे पर को करे निज रूप ना।
 अकर्ता रहे पर करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा ॥९३॥
 त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें।
 तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥९४॥
 त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें।
 तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥९५॥
 इसतरह यह मंदबुद्धि स्वयं के अज्ञान से।
 निज द्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे ॥९६॥
 बस इसतरह कर्ता कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।
 जो जानते यह तथ्य वे छोड़ें सकल कर्तापना ॥९७॥
 व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का।
 इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ॥९८॥
 परद्रव्यमय हो जाय यदि पर द्रव्य में कुछ भी करे।
 परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ॥९९॥
 ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे।
 कर्ता कहा तत्तूपपरिणत योग अर उपयोग का ॥१००॥
 ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।
 उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं ॥१०१॥

निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा ।
 वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा ॥१०२॥
 जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ।
 तब करे कैसे परिणामन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ॥१०३॥
 कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में ।
 जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें ? ॥१०४॥
 बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में ।
 करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से ॥१०५॥
 रण में लड़े भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया ।
 बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किए व्यवहार से ॥१०६॥
 ग्रहे बाँधे परिणामावे करे या पैदा करे ।
 पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है ॥१०७॥
 गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से ।
 त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से ॥१०८॥
 मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं ।
 सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ॥१०९॥
 मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक जो कहे गुणथान हैं ।
 बस ये त्रयोदश भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में ॥११०॥
 पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन ।
 करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा ॥१११॥
 गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ।
 कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे ॥११२॥
 उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्यों हि क्रोध अनन्य हो ।
 तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे ॥११३॥
 यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह ।
 का दोष प्रत्यय कर्म अरु नोकर्म में भी आयगा ॥११४॥

क्रोधान्य है अरु अन्य है उपयोगमय यह आतमा ।
 तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ? ॥११५॥
 यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बंधे ही ।
 तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव ॥११६॥
 कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं ।
 तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति ॥११७॥
 यदि परिणामावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
 पर परिणामावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥११८॥
 यदि स्वयं ही परिणमें वे पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
 मिथ्या रही यह बात उनको परिणामावें आतमा ॥११९॥
 जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है ।
 जड़ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं ॥१२०॥
 यदि स्वयं ही ना बंधे अरु क्रोधादिमय परिणत न हो ।
 तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषे ॥१२१॥
 स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित ।
 तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति ॥१२२॥
 यदि परिणामावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को ।
 पर परिणामावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥१२३॥
 यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा ।
 मिथ्या रही यह बात उसको परिणामावे कर्म जड़ ॥१२४॥
 क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है ।
 मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है ॥१२५॥
 जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने ।
 ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥१२६॥
 अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का ।
 बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥१२७॥

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय ।
 बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय ॥१२८॥
 अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय ।
 बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥१२९॥
 स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा ।
 लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा ॥१३०॥
 इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ।
 इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥१३१॥
 निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का ।
 निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का ॥१३२॥
 अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है ।
 उपयोग की यह कलुषिता ही कषायों का उदय है ॥१३३॥
 शुभ अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।
 जो चित्त का उत्साह है वह ही उदय है योग का ॥१३४॥
 इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएँ कर्म की ।
 परिणामित हों ज्ञान-आवरणादि बसुविध कर्म में ॥१३५॥
 इस तरह बसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी ।
 अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही ॥१३६॥
 यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो ।
 तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥१३७॥
 किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का ।
 यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बने ? ॥१३८॥
 इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदी ।
 तो जीववत् जड़कर्म भी रागादिमय हो जावेंगे ॥१३९॥
 किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों ।
 तब कर्मजड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें ॥१४०॥

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का ।
 पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥१४१॥
 अबद्ध है या बद्ध है जिय यह सभी नयपक्ष हैं ।
 नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥१४२॥
 दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नयपक्ष को ।
 नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥१४३॥
 विरहित सभी नयपक्ष से जो सो समय का सार है ।
 है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है ॥१४४॥

पुण्य-पाप अधिकार

सुशील है शुभ कर्म और अशुभ कर्म कुशील है ।
 संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं ? ॥१४५॥
 ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
 इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥१४६॥
 दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
 दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥१४७॥
 जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर ।
 उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते ॥१४८॥
 बस उसतरह ही कर्म कुत्सित शील हैं - यह जानकर ।
 निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते ॥१४९॥
 विरक्त शिव रमणी वरें अनुरक्त बांधे कर्म को ।
 जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥१५०॥
 परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली ।
 इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी ॥१५१॥
 परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
 सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥१५२॥

व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें।
 पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें ॥१५३॥
 परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते।
 अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य हो हैं चाहते ॥१५४॥
 जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
 रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तिमार्ग है ॥१५५॥
 विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में।
 पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के ॥१५६॥
 ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
 सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से ॥१५७॥
 ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
 सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञानमल के लेप से ॥१५८॥
 ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
 चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से ॥१५९॥
 सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो।
 संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः ॥१६०॥
 सम्यक्त्व प्रतिबन्धक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
 उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥१६१॥
 सद्ज्ञान प्रतिबन्धक करम अज्ञान जिनवर ने कहा।
 उसके उदय से जीव अज्ञानी बने - यह जानना ॥१६२॥
 चारित्र प्रतिबन्धक करम जिन ने कषायों को कहा।
 उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो यह जानना ॥१६३॥

आस्रव अधिकार

मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय चेतन-अचेतन।
 चितरूप जो हैं वे सभी चैतन्य के परिणाम हैं ॥१६४॥

ज्ञानावरण आदिक अचेतन कर्म के कारण बने।
 उनका भी तो कारण बने रागादि कारक जीव यह ॥१६५॥
 है नहीं आस्रव बंध क्योंकि आस्रवों का रोध है।
 सदृष्टि उनको जानता जो कर्म पूर्वनिबद्ध हैं ॥१६६॥
 जीवकृत रागादि ही बंधक कहे हैं सूत्र में।
 रागादि से जो रहित वह ज्ञायक अबंधक जानना ॥१६७॥
 पक्वफल जिसतरह गिरकर नहीं जुड़ता वृक्ष से
 बस उसतरह ही कर्म खिरकर नहीं जुड़ते जीव से ॥१६८॥
 जो बंधे थे भूत में वे कर्म पृथ्वीपिण्ड सम।
 वे सभी कर्म शरीर से हैं बद्ध सम्यग्ज्ञानि के ॥१६९॥
 प्रतिसमय विध-विध कर्म को सब ज्ञान-दर्शन गुणों से।
 बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ही ज्ञानी अबंधक इसलिए ॥१७०॥
 ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में।
 अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा ॥१७१॥
 ज्ञान-दर्शन-चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे।
 तब विविध पुद्गल कर्म से इसलोक में ज्ञानी बँधे ॥१७२॥
 सदृष्टियों के पूर्वबद्ध जो कर्मप्रत्यय सत्व में।
 उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें ॥१७३॥
 अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह।
 ज्ञान-आवरणादि बसुविध कर्म बाँधे उसतरह ॥१७४॥
 बालबनिता की तरह वे सत्व में अनभोग्य हैं।
 पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते ॥१७५॥
 बस इसलिए सदृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा।
 क्योंकि आस्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सके ॥१७६॥
 रागादि आस्रवभाव जो सदृष्टियों के वे नहीं।
 इसलिए आस्रवभाव बिन प्रत्यय न हेतु बंध के ॥१७७॥

अष्टविध कर्मों के कारण चार प्रत्यय ही कहे।
 रागादि उनके हेतु हैं उनके बिना बंधन नहीं ॥१७८॥
 जगजन ग्रसित आहार ज्यों जठराग्नि के संयोग से।
 परिणामित होता बसा में मज्जा रुधिर मांसादि में ॥१७९॥
 शुद्धनय परिहीन ज्ञानी के बंधे जो पूर्व में।
 वे कर्म प्रत्यय ही जगत में बांधते हैं कर्म को ॥१८०॥

संवर अधिकार

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना।
 बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना ॥१८१॥
 अष्टविध द्रवकर्म में नोकर्म में उपयोग ना।
 इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना ॥१८२॥
 विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
 उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आतमा ॥१८३॥
 ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे।
 त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे ॥१८४॥
 जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो।
 वे आतमा जाने न माने राग को ही आतमा ॥१८५॥
 जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो।
 जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥१८६॥
 पुण्य एवं पाप से निज आतमा को रोककर।
 अन्य आशा से विरत हो ज्ञान-दर्शन में रहें ॥१८७॥
 विरहित करम नोकरम से निज आत्म के एकत्व को।
 निज आतमा को स्वयं ध्यावें सर्व संग विमुक्त हो ॥१८८॥
 ज्ञान-दर्शन मय निजातम को सदा जो ध्यावते।
 अत्यल्पकाल स्वकाल में वे सर्व कर्म विमुक्त हों ॥१८९॥

बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही।
 मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरत-भाव एवं योग भी ॥१९०॥
 इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के।
 अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है ॥१९१॥
 कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो।
 नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो ॥१९२॥

निर्जरा अधिकार

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन।
 जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है ॥१९३॥
 सुख-दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से।
 अर भोगने के बाद सुख-दुख निर्जरा को प्राप्त हों ॥१९४॥
 ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं जहर के उपभोग से।
 त्यों ज्ञानिजन बंधते नहीं हैं कर्म के उपभोग से ॥१९५॥
 ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्त जन होते नहीं।
 त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बंधते नहीं ॥१९६॥
 ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बनें।
 त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषय के सेवक नहीं ॥१९७॥
 उदय कर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहे।
 किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९८॥
 पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं।
 किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९९॥
 इसतरह ज्ञानी जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा।
 कर्मोदयों को छोड़ते निजतत्त्व को पहिचान कर ॥२००॥
 अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के।
 वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को ॥२०१॥

जो न जाने जीव को वे अजीव भी जाने नहीं।
 कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जाने नहीं? ॥२०२॥
 स्वानुभूतिगम्य है जो नियत थिर निजभाव ही।
 अपद पद सब छोड़ ग्रह वह एक नित्यस्वभाव ही ॥२०३॥
 मतिश्रुतावधिमनःपर्यय और केवलज्ञान भी।
 सब एक पद परमार्थ हैं पा इसे जन शिवपद लहें ॥२०४॥
 इस ज्ञानगुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें।
 यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो ॥२०५॥
 इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो।
 बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो ॥२०६॥
 आतमा ही आतमा का परीग्रह - यह जानकर।
 'पर द्रव्य मेरा है' - बताओ कौन बुध ऐसा कहे? ॥२०७॥
 यदि परीग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
 पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ॥२०८॥
 छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो।
 जावे चला चाहे जहाँ पर परीग्रह मेरा नहीं ॥२०९॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को।
 है परीग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे ॥२१०॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को।
 है परिग्रह न अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे ॥२११॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को।
 है परिग्रह ना असन का वह असन का ज्ञायक रहे ॥२१२॥
 है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को।
 है परिग्रह ना पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे ॥२१३॥
 इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को।
 सर्वत्र ही वह निरालम्बी नियत ज्ञायकभाव है ॥२१४॥

उदयगत जो भोग हैं उनमें वियोगीबुद्धि है।
 अर अनागत भोग की सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं ॥२१५॥
 वेद्य-वेदक भाव दोनों नष्ट होते प्रतिसमय।
 ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना उभय की कांक्षा करे ॥२१६॥
 बंध-भोग-निमित्त में अर देह में संसार में।
 सद्ज्ञानियों को राग होता नहीं अध्यवसान में ॥२१७॥
 पंकगत ज्यों कनक निर्मल कर्मगत त्यों ज्ञानिजन।
 राग विरहित कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥२१८॥
 पंकगत ज्यों लोह त्यों ही कर्मगत अज्ञानिजन।
 रक्त हों परद्रव्य में अर कर्मरज से लिप्त हों ॥२१९॥
 ज्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
 भी संख के शुक्लत्व को ना कृष्ण कोई कर सके ॥२२०॥
 त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
 भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके ॥२२१॥
 जब स्वयं शुक्लत्व तज वह कृष्ण होकर परिणमे।
 तब स्वयं ही हो कृष्ण एवं शुक्ल भाव परित्यजे ॥२२२॥
 इस ही तरह जब ज्ञानिजन निजभाव को परित्यागकर।
 अज्ञानमय हों परिणमित तब स्वयं अज्ञानी बनें ॥२२३॥
 आजीविका के हेतु नर ज्यों नृपति की सेवा करे।
 तो नरपती भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥२२४॥
 इस ही तरह जब जीव सुख के हेतु सेवे कर्मरज।
 तो कर्मरज भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥२२५॥
 आजीविका के हेतु जब नर नृपति सेवा ना करे।
 तब नृपति भी उसके लिए उसतरह सुविधा न करे ॥२२६॥
 त्यों कर्मरज सेवे नहीं जब जीव सुख के हेतु से।
 तो कर्मरज उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे ॥२२७॥

निःशंक हों सदृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें।
 वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही निःशंक हैं ॥२२८॥
 जो कर्मबंधन मोह कर्ता चार पाये छेदते।
 वे आतमा निःशंक सम्यग्दृष्टि हैं - यह जानना ॥२२९॥
 सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा।
 वे आतमा निकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं - यह जानना ॥२३०॥
 जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तुधर्मों के प्रति।
 वे आतमा ही निर्जुगुप्सक समकिति हैं जानना ॥२३१॥
 सर्व भावों के प्रति सदृष्टि हैं असंमूढ़ हैं।
 अमूढ़दृष्टि समकिति वे आतमा ही जानना ॥२३२॥
 जो सिद्धभक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें।
 वे आतमा गोपनकरी सदृष्टि हैं यह जानना ॥२३३॥
 उन्मार्गगत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में।
 वे आतमा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥२३४॥
 मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति रखें वत्सल भाव जो।
 वे आतमा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥२३५॥
 सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हो जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।
 वे प्रभावक जिनमार्ग के सदृष्टि उनको जानना ॥२३६॥

बंध अधिकार

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
 व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥२३७॥
 तरु ताड़ कदली बांस आदिक वनस्पति छेदन करे।
 सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥२३८॥
 बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
 परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किस कारण हुआ ॥२३९॥

चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
 पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥२४०॥
 बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
 सबकर्मरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञान ॥२४१॥
 ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणू बहुल स्थान में।
 व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥२४२॥
 तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
 सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥२४३॥
 बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
 परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ ? ॥२४४॥
 चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
 पर काय चेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥२४५॥
 बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए।
 बस कर्मरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञान ॥२४६॥
 मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन! ॥२४७॥
 निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
 तुम मार कैसे सकोगे जब आयु दे सकते नहीं ॥२४८॥
 निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
 वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ॥२४९॥
 मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन! ॥२५०॥
 सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही।
 जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ॥२५१॥
 सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
 कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ? ॥२५२॥

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
 यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ? ॥२५३॥
 हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब ॥२५४॥
 हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 दुष्कर्म दे सकते न जब दुःख-दर्द दें किस भाँति तब ? ॥२५५॥
 हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब ? ॥२५६॥
 जो मरें या जो दुखी हों वे सब कर्म के उदय से ।
 'मैं दुखी करता-मारता' - यह बात क्यों मिथ्या न
 ह १ ? । । २ ५ ७ । ।
 जो ना मरे या दुखी ना हो सब कर्म के उदय से ।
 'ना दुखी करता मारता' - यह बात क्यों मिथ्या न हो ॥२५८॥
 मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
 यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे ॥२५९॥
 'मैं सुखी करता दुखी करता' यही अध्यवसान सब ।
 पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥२६०॥
 'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब ।
 पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥२६१॥
 मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
 यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥२६२॥
 इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में ।
 जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें ॥२६३॥
 इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रन्थ में
 जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें ॥२६४॥
 ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से ।

परवस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से ॥२६५॥
 मैं सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता ।
 यह मान्यता है मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना ॥२६६॥
 जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते ।
 गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ? ॥२६७॥
 यह जीव अध्यवसान से तिर्यच नारक देव नर ।
 अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे ॥२६८॥
 वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय ।
 अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे ॥२६९॥
 ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं ।
 वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों ॥२७०॥
 व्यवसाय बुद्धी मती अध्यवसान अर विज्ञान भी ।
 एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित परिणाम भी ॥२७१॥
 इस तरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
 निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की ॥२७२॥
 व्रत-समिति-गुप्ति-शील-तप आदिकसभी जिनवरकथित ।
 करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं ॥२७३॥
 मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि ।
 को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन ॥२७४॥
 अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच-पच रहें ।
 जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो ॥२७५॥
 जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है ।
 चारित्र है षट्काय रक्षा - यह कथन व्यवहार है ॥२७६॥
 निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा ।
 अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥२७७॥
 ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि ।

पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह ॥२७८॥
 त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही ।
 रागादि के ही उदय से वे किए जाते रागमय ॥२७९॥
 ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष-कषाय को ।
 इसलिए ज्ञानी जीव कर्ता नहीं है रागादि का ॥२८०॥
 राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
 उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे ॥२८१॥
 राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
 उनरूप परिणत आतमा रागादि का बंधन करे ॥२८२॥
 है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी ।
 इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥२८३॥
 अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से ।
 इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥२८४॥
 द्रवभाव से अत्याग अप्रतिक्रमण होवें जबतलक ।
 तबतलक यह आतमा कर्ता रहे - यह जानना ॥२८५॥
 अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं ।
 परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ? ॥२८६॥
 उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन ।
 कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों? ॥२८७॥

मोक्ष अधिकार

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के ।
 तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को हो जानता ॥२८८॥
 किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं ।
 तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥२८९॥
 इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को ।

जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥२९०॥
 चिन्तवन से बंध के ज्यों बंधे जन न मुक्त हों ।
 त्यों चिन्तवन से बंध के सब बंधे जीव न मुक्त हों ॥२९१॥
 छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों ।
 त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों ॥२९२॥
 जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को ।
 विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों ॥२९३॥
 जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हो ।
 दोनों पृथक् हो जाय प्रज्ञाछैनि से जब छिन्न हों ॥२९४॥
 जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों ।
 बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा ॥२९५॥
 जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
 उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥२९६॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९७॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९८॥
 इसभाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९९॥
 निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
 है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ॥३००॥
 अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें ।
 कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध ले ॥३०१॥
 अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे ।
 बंध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित रहे ॥३०२॥
 अपराधि जिय 'मैं बधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे ।

पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है ॥३०३॥
 साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है ।
 बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है ॥३०४॥
 अपराध है जो आतमा वह आतमा निःशंक है ।
 'मैं शुद्ध हूँ' - यह जानता आराधना में रत रहे ॥३०५॥
 प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा ।
 निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥३०६॥
 अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा ।
 अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ है ॥३०७॥

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों ।
 जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे जान अनन्य त्यों ॥३०८॥
 जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे ।
 वे जीव और अजीव जानों अनन्य उन परिणाम से ॥३०९॥
 ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं ।
 किसी से ना हो अतः यह आतमा कारज नहीं ॥३१०॥
 कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी ।
 यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता-कर्म की ॥३११॥
 उत्पन्न होता नष्ट होता जीव प्रकृति निमित्त से ।
 उत्पन्न होती नष्ट होती प्रकृति जीव निमित्त से ॥३१२॥
 यों परस्पर निमित्त से हो बंध जीव रु कर्म का ।
 बस इसतरह ही उभय से संसार की उत्पत्ति हो ॥३१३॥
 जबतक न छोड़े आतमा प्रकृति निमित्तक परिणामन ।
 तबतक रहे अज्ञानि मिथ्यादृष्टि एवं असंयत ॥३१४॥
 जब अनन्ता कर्म का फल छोड़ दे यह आतमा ।

तब मुक्त होता बंध से सदृष्टि ज्ञानी संयमी ॥३१५॥
 प्रकृतिस्वभावस्थित अज्ञजन ही नित्य भोगें कर्मफल ।
 पर नहीं भोगें विज्ञजन वे जानते हैं कर्मफल ॥३१६॥
 गुड़-दूध पीता हुआ भी निर्विष न होता सर्प ज्यों ।
 त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर अभवि प्रकृति न तजे ॥३१७॥
 निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी मधुर-कड़वे नेक विध ।
 वे जानते हैं कर्मफल को हैं अवेदक इसलिए ॥३१८॥
 ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध करम को ।
 वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को ॥३१९॥
 ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक ।
 जाने करम के बंध उदय मोक्ष एवं निर्जरा ॥३२०॥
 जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को ।
 रक्षा करूँ षट्काय की यदि श्रमण भी माने यही ॥३२१॥
 तो ना श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा ।
 सम मान्यता में विष्णु एवं आतमा कर्ता रहा ॥३२२॥
 इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को ।
 मोक्ष दोनों को दिखाई नहीं देता है मुझे ॥३२३॥
 अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह परद्रव्य को अपना कहें ।
 पर तत्त्वविद् जाने कि पर परमाणु भी मेरा नहीं ॥३२४॥
 ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा कहे कोई जिसतरह ।
 किन्तु वे उसके नहीं हैं मोह से ही वह कहे ॥३२५॥
 इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' - जानकर अपना करे ।
 संशय नहीं वह ज्ञानि मिथ्यादृष्टि ही है जानना ॥३२६॥
 'मेरे नहीं ये' - जानकर तत्त्वज्ञ ऐसा मानते ।
 है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि लोक एवं श्रमण की ॥३२७॥
 मिथ्यात्व नामक प्रकृति मिथ्यात्वी करे यदि जीव को ।

फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्तापने को प्राप्त हो ॥३२८॥
 अथवा करे यह जीव पुद्गल दरव के मिथ्यात्व को ।
 मिथ्यात्वमय पुद्गल दरव ही सिद्ध होगा जीव ना ॥३२९॥
 यदि जीव प्रकृति उभय मिल मिथ्यात्वमय पुद्गल करे ।
 फल भोगना होगा उभय को उभयकृत मिथ्यात्व का ॥३३०॥
 यदि जीव प्रकृति ना करें मिथ्यात्वमय पुद्गल दरव ।
 मिथ्यात्वमय पुद्गलसहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहो? ॥३३१॥
 कर्म अज्ञानी करे अर कर्म ही ज्ञानी करे ।
 जिय को सुलावे कर्म ही अर कर्म ही जाग्रत करे ॥३३२॥
 कर्म करते सुखी एवं दुखी करते कर्म ही ।
 मिथ्यात्वमय कर्महि करे अर असंयमी भी कर्म ही ॥३३३॥
 कर्म ही जिय भ्रमाते हैं ऊर्ध्व-अध-तिरलोक में ।
 जो कुछ जगत में शुभ-अशुभ वह कर्म ही करते रहें ॥३३४॥
 कर्म करते कर्म देते कर्म हरते हैं सदा ।
 यह सत्य है तो सिद्ध होंगे अकारक सब आतमा ॥३३५॥
 नरवेद है महिलाभिलाषी नार चाहे पुरुष को ।
 परम्परा आचार्यों से बात यह श्रुतपूर्व है ॥३३६॥
 अब्रह्मचारी नहीं कोई हमारे उपदेश में ।
 क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म चाहे कर्म को ॥३३७॥
 जो मारता है अन्य को या मारा जावे अन्य से ।
 परघात नामक कर्म की ही प्रकृति का यह काम है ॥३३८॥
 परघात करता नहीं कोई हमारे उपदेश में ।
 क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म मारे कर्म को ॥३३९॥
 सांख्य के उपदेश सम जो श्रमण प्रतिपादन करें ।
 कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर है अकारक आतमा ॥३४०॥
 या मानते हो यह कि मेरा आतमा निज को करे ।

तो यह तुम्हारा मानना मिथ्यास्वभावी जानना ॥३४१॥
 क्योंकि आतम नित्य है एवं असंख्य-प्रदेशमय ।
 ना उसे इससे हीन अथवा अधिक करना शक्य है ॥३४२॥
 विस्तार से भी जीव का जीवत्व लोकप्रमाण है ।
 ना होय हीनाधिक कभी कैसे करे जिय द्रव्य को ॥३४३॥
 यदी माने रहे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव में ।
 तो भी आतम स्वयं अपने आतमा को ना करे ॥३४४॥
 यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं ।
 जो भोगता वह करे अथवा अन्य यह एकान्त ना ॥३४५॥
 यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं ।
 जो करे भोगे वही अथवा अन्य यह एकान्त ना ॥३४६॥
 जो करे, भोगे नहीं वह; सिद्धान्त यह जिस जीव का ।
 वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ॥३४७॥
 कोई करे कोई भरे यह मान्यता जिस जीव की ।
 वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ॥३४८॥
 ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने ।
 त्यों जीव कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने ॥३४९॥
 ज्यों शिल्पि करणों से करे पर करणमय वह ना बने ।
 त्यों जीव करणों से करे पर करणमय वह ना बने ॥३५०॥
 ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने ।
 त्यों जीव करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने ॥३५१॥
 ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना ।
 त्यों जीव भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना ॥३५२॥
 संक्षेप में व्यवहार का यह कथन दर्शाया गया ।
 अब सुनो परिणाम विषयक कथन जो परमार्थ का ॥३५३॥
 शिल्पी करे जो चेष्टा उससे अनन्य रहे सदा ।

जीव भी जो करे वह उससे अनन्य रहे सदा ॥३५४॥
 चेष्टा में मगन शिल्पी नित्य ज्यों दुःख भोगता ।
 यह चेष्टा रत जीव भी त्यों नित्य ही दुःख भोगता ॥३५५॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है ।
 ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है ॥३५६॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है ।
 दर्शक नहीं त्यों अन्य का दर्शक तो बस दर्शक ही है ॥३५७॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है ।
 संयत नहीं त्यों अन्य का संयत तो बस संयत ही है ॥३५८॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है ।
 दर्शन नहीं त्यों अन्य का दर्शन तो बस दर्शन ही है ॥३५९॥
 यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है परमार्थ का ।
 अब सुनो अतिसंक्षेप में तुम कथन नय व्यवहार का ॥३६०॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से ।
 बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६१॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से ।
 बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६२॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से ।
 बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६३॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से ।
 सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६४॥
 यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है व्यवहार का ।
 अर अन्य पर्यय विषय में भी इसतरह ही जानना ॥३६५॥
 ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन विषय में ।
 इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस विषय में ॥३६६॥
 ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन कर्म में ।

इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस कर्म में ॥३६७॥
 ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन काय में ।
 इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस काय में ॥३६८॥
 सदज्ञान का सम्यक्त्व का उपघात चारित्र का कहा ।
 अन्य पुद्गल द्रव्य का ना घात किंचित् भी कहा ॥३६९॥
 जीव के जो गुण कहे वे हैं नहीं परद्रव्य में ।
 बस इसलिए सददृष्टि को है राग विषयों में नहीं ॥३७०॥
 अनन्य हैं परिणाम जिय के राग-द्वेष-विमोह ये ।
 बस इसलिए शब्दादि विषयों में नहीं रागादि ये ॥३७१॥
 गुणोत्पादन द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य नहीं करे ।
 क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों ॥३७२॥
 स्तवन निन्दा रूप परिणत पुद्गलों को श्रवण कर ।
 मुझ को कहे यह मान तोष-रु-रोष अज्ञानी करें ॥३७३॥
 शब्दत्व में परिणमित पुद्गल द्रव्य का गुण अन्य है ।
 इसलिए तुम से ना कहा तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों ? ॥३७४॥
 शुभ या अशुभ ये शब्द तुझसे ना कहें कि हमें सुन ।
 अर आतमा भी कर्णगत शब्दों के पीछे ना भगे ॥३७५॥
 शुभ या अशुभ यह रूप तुझ से ना कहे कि हमें लख ।
 यह आतमा भी चक्षुगत वर्णों के पीछे ना भगे ॥३७६॥
 शुभ या अशुभ यह गंध तुम सूँघो मुझे यह ना कहे ।
 यह आतमा भी घ्राणगत गंधों के पीछे ना भगे ॥३७७॥
 शुभ या अशुभ यह सरस रस यह ना कहे कि हमें चख ।
 यह आतमा भी जीभगत स्वादों के पीछे ना भगे ॥३७८॥
 शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे ना कहें कि हमें छू ।
 यह आतमा भी कायगत स्पर्शों के पीछे ना भगे ॥३७९॥
 शुभ या अशुभ गुण ना कहे तुम हमें जानो आत्मन् ।

यह आतमा भी बुद्धिगत सुगुणों के पीछे ना भगे ॥३८०॥
 शुभ या अशुभ द्रव्य ना कहे तुम हमें जानो आत्मन् ।
 यह आतमा भी बुद्धिगत द्रव्यों के पीछे ना भगे ॥३८१॥
 यह जानकर भी मूढ़जन ना ग्रहें उपशमभाव को ।
 मंगलमती को ना ग्रहें पर के ग्रहण का मन करें ॥३८२॥
 शुभ-अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किए गतकाल में ।
 उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है ॥३८३॥
 बंधेंगे जिस भाव से शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में ।
 उससे निवर्तन जो करे वह जीव है आलोचना ॥३८४॥
 शुभ-अशुभ भाव अनेकविध हो रहे सम्प्रति काल में ।
 इस दोष का ज्ञाता रहे वह जीव है आलोचना ॥३८५॥
 जो करें नित प्रतिक्रमण एवं करें नित आलोचना ।
 जो करें प्रत्याख्यान नित चारित्र हैं वे आतमा ॥३८६॥
 जो कर्मफल को वेदते निजरूप माने करमफल ।
 हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८७॥
 जो कर्मफल को वेदते माने करमफल मैं किया ।
 हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८८॥
 जो कर्मफल को वेदते हों सुखी अथवा दुखी हों ।
 हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८९॥
 शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९०॥
 शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९१॥
 रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहे ॥३९२॥
 वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं ।

बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९३॥
 गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९४॥
 रस नहीं है ज्ञान क्योंकि कुछ भी रस जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही अन्य रस अरु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९५॥
 स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९६॥
 कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९७॥
 धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९८॥
 अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९९॥
 काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४००॥
 आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं ।
 बस इसलिए आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४०१॥
 अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे ।
 इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४०२॥
 नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है ।
 है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना ॥४०३॥
 ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी ।
 सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान हैं - यह बुध कहें ॥४०४॥
 आहार पुद्गलमयी है बस इसलिए है मूर्तिक ।
 ना अहारक इसलिए ही यह अमूर्तिक आतमा ॥४०५॥
 परद्रव्य का ना ग्रहण हो ना त्याग हो इस जीव के ।

क्योंकि प्रायोगिक तथा वैज्ञानिक स्वयं गुण जीव
 क । । ४ ० ६ । ।
 इसलिए यह शुद्धात्मा पर जीव और अजीव से ।
 कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता ॥४०७॥
 ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के ।
 यह लिंग ही है मुक्तिमग यह कहें कतिपय मूढ़जन ॥४०८॥
 पर मुक्तिमग ना लिंग क्योंकि लिंग तज अरिहंत जिन ।
 निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें ॥४०९॥
 बस इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग मुक्ति का ।
 जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग मुक्ति का ॥४१०॥
 बस इसलिए अनगार या सागार लिंग को त्यागकर ।
 जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपंथ में ॥४११॥
 मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर ।
 निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार कर ॥४१२॥
 ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के ।
 उनमें करें ममता न जाने वे समय के सार को ॥४१३॥
 व्यवहार से ये लिंग दोनों कहे मुक्तीमार्ग में ।
 परमार्थ से तो नहीं कोई लिंग मुक्तीमार्ग में ॥४१४॥
 पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्त्वार्थ से जो जानकर ।
 निज अर्थ में एकाग्र हों वे परमसुख हो प्राप्त हों ॥४१५॥
 पंचविंशति पंचदश श्री वीर के निर्वाण दिन ।
 पूरा हुआ इस ग्रन्थ का शुभ पद्यमय अनुवाद यह ॥४१६॥



समयसार कलश पद्यानुवाद

जीवाजीवाधिकार

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
 सकलज्ञेय ज्ञायक नमों, समयसार सद्रूप ॥१॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आत्मा ।
 अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥२॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
 फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ॥
 परमविशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी ।
 समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से ॥३॥
 उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
 स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ॥
 मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
 स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥
 ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
 उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
 पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
 जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥५॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
 वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥

नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए ॥६॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ॥७॥

(रोला)

शुद्ध कनक ज्यों छुपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छुपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।
अरे भव्यजन ! पद-पद पर तुम उसको जानों ॥८॥
निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो ।

शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई ॥९॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है - ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१०॥
पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥११॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत् ।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥

तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित ।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥१२॥
शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो ।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके ।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥१३॥
खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥१४॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥
मेचक कहा है आतमा दृग ज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमातमा बस है अमेचक स्वयं से ॥
परमाण से मेचक-अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥१६॥
आतमा है एक यद्यपि किन्तु नयव्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
अर इसे जाने बिन जगतजन ना लगें सन्मार्ग में ॥१७॥
आतमा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥

है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
 है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से ॥१८॥
 मेचक अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
 बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या ॥
 हो साध्यसिद्धि एक बस सद्ज्ञानदर्शनचरण से ।
 पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचे संसरण से ॥१९॥
 त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
 यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
 अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ।
 क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ॥२०॥

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से ।
 भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥
 ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
 अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥२१॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो ।
 अर रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ॥
 तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
 अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ॥२२॥
 निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का ।
 हे आत्मन् ! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
 जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयंको तब शीघ्र ही ।
 तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ॥२३॥

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से ।
 जो हरे निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से ॥
 जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें ।
 उन सहस्र अठलक्षण सहित जिन-सूरि को वंदन करें ॥२४॥
 प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को ।
 अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को ॥
 सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौन्दर्य से ।
 अद्भुत् अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से ॥२५॥
 गंभीर सागर के समान महान मानस मंग हैं ।
 नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग हैं ॥
 सहज ही अद्भुत् अनूपम अपूर्व लावण्य है ।
 क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवर अंग हैं ॥२६॥
 इस आतमा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से ।
 यह शरीराश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार से ॥
 परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन ।
 परमार्थ से तो भिन्न ही हैं देह अर चैतन्यघन ॥२७॥
 इस आतमा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से ।
 निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने ॥
 यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सद्बोध हो ।
 भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सद्बोध हो ॥२८॥
 परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े ।
 अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती ॥
 व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अतिशीघ्र ही ।
 अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही ॥२९॥
 सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ ।
 मैं स्वयं ही इस लोक में निजभाव का अनुभव करूँ ॥

यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ ।
 हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ ॥३०॥
 बस इसतरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता ।
 तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया ॥
 प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञानवृत परिणत हुआ ।
 तब आतमा के बाग में आतम रमण करने लगा ॥३१॥
 सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
 विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ॥
 हे भव्यजन ! इस लोक के सब एकसाथ नहाइये ।
 अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये ॥३२॥

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो,
 ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
 अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
 दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता ॥
 जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
 विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता ।
 ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
 स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥३३॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से ।
 अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से ॥
 यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना ।
 तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना ॥३४॥

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।
 चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥
 है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धात्मा ।
 अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यात्मा ॥३५॥

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन केवल वे हैं जीव ।
 उन्हें छोड़कर और सब पुद्गलमयी अजीव ॥३६॥
 वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न ।
 अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य ॥३७॥
 जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
 स्वर्णम्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥३८॥
 वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गल जन्य ।
 एक शुद्ध विज्ञानघन आतम इनसे भिन्न ॥३९॥
 कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय ।
 कहने से वर्णादिमय जीव न तन्मय होय ॥४०॥
 स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
 स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त ॥४१॥

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
 इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके ।
 सोचकर विचारकर भलीभांति ज्ञानियों ने,
 कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके ।
 अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषों से विरहित,
 चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का ।
 अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
 क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥४२॥

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को ।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन्न-भिन्न ही हैं जानते ॥
जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह ।
अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है ॥४३॥

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में ।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है ।
आनन्दमय चिद्धाव तो दृग्ज्ञानमय चैतन्य है ॥४४॥

जब इसतरह धाराप्रवाही ज्ञान का आरा चला ।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन होचला ॥
अब जबतलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्व ही ।
यहज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥४५॥

कर्त्ताकर्माधिकार

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
है यही कर्ताकर्म की यह प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशनी ॥४६॥

परपरिणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम ।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब ॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब ।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब ॥४७॥

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा ।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥

जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा ।
अहो सदज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥४८॥

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ॥
कर्त्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में ।

इस भांति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में ।
कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥४९॥

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं ।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं ॥

नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं,
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं,
करता-करम की प्रवृत्ति मिटे नहीं ॥५०॥

(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
 है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥५१॥
 अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
 परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की ॥५२॥
 परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमे ।
 परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥५३॥
 कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
 ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥५४॥
 'पर को करूं मैं' - यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
 यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है ॥
 भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
 तो ज्ञान के घनपिण्ड आत्म को कभी न बंध हो ॥५५॥

(दोहा)

परभावों को पर करे आत्म आत्मभाव ।
 आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥५६॥

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
 भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
 समझे मीठी घास नाज को न पहिचाने ।
 त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
 पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है ।
 अरे शिखरणी पी मानो गो दूध पिया है ॥५७॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल मानकर ।
 अज्ञान से ही डरें तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
 ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
 वातोद्वेलित उदधिवत कर्ता बने आकुलित हो ॥५८॥
 दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों ।
 सद्ज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
 जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आत्मा ।
 चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमात्मा ॥५९॥

(आडिल्ल छन्द)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
 और शीतलता सहज ही नीर की ॥
 व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
 ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
 क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता ।
 अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
 इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
 अपने रस से भरा हुआ यह आत्मा ॥६०॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
 करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आत्मा ॥६१॥
 ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?
 कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ॥६२॥

(दोहा)

यदि पुद्गलमय कर्म को करे न चेतनराय ।
 कौन करे - अब यह कहें सुनो भरम नश

ज १ य । । ६ ३ । ।

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥६४॥
आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥६५॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं ॥
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है ॥६६॥
ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ॥
उपादान के ही समान कारज होते हैं ।
जौ बौने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ॥६७॥

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ॥६८॥

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।

करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥६९॥

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७०॥
एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥
एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥
एक कहे ना दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥
एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥
एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,

उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८८॥
 एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
 पक्षपात से रहित तत्ववेदी जो जन हैं,
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८९॥
 (हरिगीत)
 उठ रहा जिसमें है अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
 वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
 उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
 हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥९०॥
 (दोहा)
 इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
 जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥९१॥
 (रोला)
 मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
 परमारथसे एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
 कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
 नित अनुभव यह करूँ किचिन्मय समयसार मैं ॥९२॥
 (हरिगीत)
 यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
 यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
 निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
 जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥९३॥
 निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
 बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
 उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।

निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ
 मि म ल १ ४ । ।
 (रोला)
 है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
 जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
 नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
 इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥९५॥
 जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
 जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
 जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
 जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥९६॥
 करने रूप क्रिया में जानन भासित ना हो ।
 जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो ॥
 इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
 इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥९७॥
 (हरिगीत)
 करम में कर्ता नहीं है अर कर्म कर्ता में नहीं ।
 इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
 कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
 यदि साफ है यह बात तो फिर मोह है क्यों नाचता? ॥९८॥
 (सबैया इकतीसा)
 जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
 अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ॥
 अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
 व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥
 तब कर्म कर्म अर कर्ता कर्ता न रहा ।
 ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ॥

और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥१९॥

पुण्यपापाधिकार

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥१००॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से ॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥१०१॥
अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है ।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है ॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है ।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥१०२॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करें सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥१०३॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥

अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥१०४॥
ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥१०५॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥१०६॥
कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप ना होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुक्ति न होय ॥१०७॥
बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥१०८॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥१०९॥
यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥
अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय ।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥११०॥
कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छन्द हों ॥

जो ज्ञानमय हों परिणमित परमाद के वश में न हों ।
 कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥१११॥
 जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान
 स ।
 पर भेद इनमें है नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
 यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
 जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥११२॥

आस्रवाधिकार

(हरिगीत)

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
 हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सदज्ञान निर्मित भाव जो ॥
 भावास्रवों से रहित वे इस जीव के निजभाव हैं ।
 वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं ॥११४॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है भावास्रव को नाश ।
 सदा ज्ञानमय निरास्रव ज्ञायकभाव प्रकाश ॥११५॥

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से कर दीना परित्याग ।
 सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग ॥
 बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने ।
 और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने ॥
 निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को ।
 रहे निरास्रव सदा उखाड़े परपरिणति को ॥११६॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण ।
 फिर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥११७॥

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी ।
 निजकाल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी ॥
 यद्यपी वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से ।
 अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥११८॥

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव ।
 ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव ॥११९॥

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिह्न वाले शुद्धनय अभ्यास से ।
 निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से ॥
 रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन ।
 बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते ॥१२०॥
 च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे ।
 पहले बंधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो ॥
 अरे विचित्र विकल्प वाले और विविध प्रकार के ।
 विपरीतता से भरे विध-विध कर्म का बंधन करें ॥१२१॥
 इस कथन का है सार यह कि शुद्धनय उपादेय है ।
 अर शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है ॥
 क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है ।
 इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है ॥१२२॥
 धीर और उदार महिमायुत अनादि-अनंत जो ।
 उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भाव जो ॥
 सदज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है ।
 विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥१२३॥
 निज आतमा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते ।

अर उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते ॥
वे आस्रवों का नाश कर नित रहें आत्म ध्यान में ।
वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में ॥१२४॥

संवराधिकार

(हरिगीत)

संवरजयी मदमत्त आस्रवभाव का अपलाप कर ।
व्यावृत्य हो पररूप से सद्बोध संवर भास्कर ॥
प्रगटा परम आनन्दमय निज आत्म के आधार से ।
सद्ज्ञानमय उज्वल धवल परिपूर्ण निजरसभार से ॥१२५॥
यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जड़रूप है ।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है ॥
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ ॥१२६॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाह से ।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धात्म को ॥
और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे ।
पर परिणति को त्याग निरन्तर शुध हो जावे ॥१२७॥
भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके ।
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे ॥१२८॥
आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से ।
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना ।

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान
क ी । । १ २ ९ । ।
अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।
ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥१३०॥
अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे ।
महिमा जानो एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में ।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥१३१॥
भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो ॥
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥१३२॥

निर्जराधिकार

(हरिगीत)

आगामि बंधन रोकने संवर सजग सन्नद्ध हो ।
रागादि के अवरोध से जब कर्म कस के खड़ा हो ॥
अर पूर्वबद्ध कर्म दहन को निरजरा तैयार हो ।
तब ज्ञानज्योति यह अरे नित ही अमूर्च्छित क्यों न हो ॥१३३॥
ज्ञानी बंधे ना कर्म से सब कर्म करते-भोगते ।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥१३४॥

(दोहा)

बंधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥१३५॥

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा ।
 परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
 वे आतमा सदृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
 हो नियम से—यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल ॥१३६॥
 मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित
 स द ।
 यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा ॥
 जो समिति आलंबे महाव्रत आचरें पर पापमय ।
 दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥१३७॥
 अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो ।
 यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे ॥
 जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में ।
 हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥१३८॥
 अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद ।
 सब आपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञान पद ॥१३९॥
 उस ज्ञान के आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा ।
 अर द्वन्दमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा ॥
 आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा ।
 सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा ॥१४०॥
 सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही ।
 हों उछलती जिस भाव में अद्भुतनिधि वह आतमा ॥
 भगवान वह चैतन्य रत्नाकर सदा ही एक है ।
 फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता ॥१४१॥
 पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।

जाने बिना निज आतमा जिनवर कहैं सब व्यर्थ
 ह । ।
 मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
 निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं ॥१४२॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम ।
 ज्ञानकला से सहज ही सुलभ आतमाराम ॥
 अतः जगत के प्राणियो ! छोड़ जगत की आश ।
 ज्ञानकला का ही अरे ! करो नित्य अभ्यास ॥१४३॥
 अचिंत्यशक्ति धारक अरे चिन्तामणि चैतन्य ।
 सिद्धारथ यह आतमा ही है कोई न अन्य ॥
 सभी प्रयोजन सिद्ध हैं फिर क्यों पर की आश ।
 ज्ञानी जाने यह रहस करे न पर की आश ॥१४४॥

(सोरठा)

सभी परिग्रह त्याग इसप्रकार सामान्य से ।
 विविध वस्तु परित्याग अब आगे विस्तार से ॥१४५॥

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।
 परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग ॥१४६॥

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं ।
 क्योंकि पल-पल प्रलय पावें वेद्य-वेदक भाव सब ॥
 बस इसलिए सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा ।
 चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ॥१४७॥
 जबतक कषायित न करें सर्वांग फिटकरि आदि से ।
 तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥

बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन ।
 सब कर्म करते पर परीग्रहभाव को ना प्राप्त हों ॥१४८॥
 रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में ।
 कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥१४९॥
 स्वयं ही हों परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें ।
 अर अन्य के द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें ॥
 जिम परजनित अपराध से बंधते नहीं जन जगत में ।
 तिम भोग भोगें किन्तु ज्ञानीजन कभी बंधते
 न ह ीं । । १ ५ ० । ।
 कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं ।
 फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
 हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से ।
 तो बंध है बस इसलिए निज आतमा में रत रहो ॥१५१॥
 तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को ।
 फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता ॥
 फलाभिलाषाविरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें ।
 सब कर्म करते हुए भी वे कर्मबंधन ना करें ॥१५२॥
 जिसे फल की चाह ना वह करे - यह जंचता नहीं ।
 यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है ॥
 अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानिजन ।
 सब कर्म करते या नहीं - यह कौन जाने
 वि ज्ञान । । १ ५ ३ । ।
 वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे ।
 फिर भी अरे अतिसाहसी सदृष्टिजन निश्चल रहें ॥
 निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें ।
 निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें ॥१५४॥

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है ।
 अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५५॥
 चूंकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों ।
 अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें ॥
 अन वेदना कोड़ है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५६॥
 निज आतमा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं ।
 है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५७॥
 कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं ।
 सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५८॥
 मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को ।
 ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो ॥
 तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥१५९॥
 इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है ।
 यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनंत है ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥१६०॥

(दोहा)

नित निःशंक सदृष्टि को कर्मबंध न होय ।
पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥१६१॥
बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश ।
नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥१६२॥

बंधाधिकार

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया ।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया ॥
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने ।
अति ही अनाकुलभाव से उस बंध का मर्दन
किया । । १ ६ ३ । ।
कर्म की ये वर्गणाएँ बंध का कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं ॥
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ॥१६४॥
भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो ।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो ॥
चिद् अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो ।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो ॥१६५॥
तो भी निरर्गल प्रवर्त्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है ।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्त्तन तो बंध का स्थान है ॥
वांछारहित जो प्रवर्त्तन वह बंध विरहित जानिये ।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये ॥१६६॥
जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो बस राग है जो करें वे जाने नहीं ॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।

बंधकारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ॥१६७॥
जीवन-मरण अर दुःख-सुख सब प्राणियोंके सदा ही ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥१६८॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥१६९॥

(दोहा)

विविध कर्म बंधन करें जो मिथ्याध्यवसाय ।
मिथ्यामति निशदिन करें वे मिथ्याध्यवसाय ॥१७०॥
निष्फल अध्यवसान में मोहित हो यह जीव ।
सर्वरूप निज को करे जाने सब निजरूप ॥१७१॥

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण ।
मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके न हो,
परमप्रतापी दृष्टिवंत वे ही मुनिवर हैं ॥१७२॥

(आडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये,
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।

यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं,
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें ॥१७३॥

(सोरठा)

कहे जिनागम माँहि शुद्धातम से भिन्न जो ।
रागादिक परिणाम कर्मबंध के हेतु वे ॥
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का ।
यह आतम या अन्य कौन हेतु है अब कहें ॥१७४॥
अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप न होय यह आतम परसंग बिन ॥१७५॥

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव ॥१७६॥
ऐसे वस्तुस्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ ।
धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ ॥१७७॥

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा ।
भावीकर्मबंधन हो इन कषायभावों से,
बंधन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
इसप्रकार जान परभावों की संतति को,
जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
निजभगवान शोभायमान हो रहा ॥१७८॥
बंध के जो मूल उन रागादिकभावों को,
जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की,

यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही ॥
जिसके उदय को कोई नहीं रोक सके,
अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही ।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर,
ऐसी दिव्यज्योति प्रकाशमान हो रही ॥१७९॥

मोक्ष अधिकार

(हरिगीत)

निज आतमा अर बंध को कर पृथक् प्रज्ञाछैनि से ।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को कर सरस परमानन्द से ॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है परिपूर्णाता को प्राप्त है ।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति जो स्वयं में व्याप्त
ह १ ८ ० । ।
सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि
क ।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्ध को ॥
अति भिन्न करके आतमा से आतमा में जम गये ।
वे ही विवेकी धन्य हैं जो भवजलधि से तर गये ॥१८१॥
स्वलक्षणों के प्रबलबल से भेदकर परभाव को ।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को ॥
यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से ।
तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ ॥१८२॥
है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में ।
किन्तु फिर भी ज्ञानदर्शन भेद से दो रूप है ॥
यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे ।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे ॥

कर्त्तापन अज्ञान से ज्ञान अकारकभाव ॥१९४॥

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है ।

झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है ॥

अहो अकर्त्ता आतम फिर भी बंध हो रहा ।

यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की ॥१९५॥

(दोहा)

जैसे कर्त्तृस्वभाव नहीं वैसे भोक्तृस्वभाव ।

भोक्तापन अज्ञान से ज्ञान अभोक्ताभाव ॥१९६॥

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते ।

प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें ॥

निपुणजनो ! निजशुद्धात्ममय ज्ञानभाव को ।

अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को ॥१९७॥

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे ।

जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है ॥१९८॥

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ मानते अज्ञान से ।

हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आतमज्ञान से ॥

अध्ययन करें चारित्र पालें और भक्ति करें पर ।

लौकिकजनों वत उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो ॥१९९॥

(दोहा)

जब कोई संबंध ना पर अर आतम मांहि ।

तब कर्त्ता परद्रव्य का किसविध आत्म कहाँहि ॥२००॥

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,

तब फिर कर्त्ताकर्मभाव भी कैसे होगा ?

इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;

सदा अकर्त्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन ॥२०१॥

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,

अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में ।

विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,

भावकर्म के कर्त्ता होते अन्य कोई ना ॥२०२॥

अरे कार्य कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता,

भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने ।

और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन;

वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को ॥

प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें

य ि द ,

तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों ना भोगें?

भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,

इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्त्ता ॥२०३॥

कोई कर्त्ता मान कर्म को भावकर्म का,

आतम का कर्त्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा ।

और कथंचित् कर्त्ता आतम कहनेवाली;

स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते ॥

उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,

संबोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय ।

वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
 अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि ॥२०४॥
 अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
 इस आतम को सदा अकर्त्ता तुम मत जानो ।
 भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्त्ता आतम;
 भेदज्ञान होने पर सदा अकर्त्ता जानो ॥२०५॥
 जो कर्त्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
 ऐसा कहते कोई आतमा क्षणिक मानकर ।
 नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा,
 मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा ॥२०६॥
 (सोरठा)
 वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से ।
 कर्त्ता भोक्ता भिन्न; इस भय से मानो नहीं ॥२०७॥
 (रोला)
 यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है ।
 जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि ॥
 इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा ।
 ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता ॥२०८॥
 कर्त्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
 भले भेद हो अथवा दोनों ही न होवें ।
 ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
 त्यों अभेद आतम का अनुभव हमें सदा हो ॥२०९॥
 (दोहा)
 अरे मात्र व्यवहार से कर्मरु कर्त्ता भिन्न ।
 निश्चयनय से देखिये दोनों सदा अभिन्न ॥२१०॥

अरे कभी होता नहीं कर्त्ता के बिन कर्म ।
 निश्चय से परिणाम ही परिणामी का कर्म ॥
 सदा बदलता ही रहे यह परिणामी द्रव्य ।
 एकरूप रहती नहीं वस्तु की थिति नित्य ॥२११॥
 (रोला)
 यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित ।
 और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के ॥
 पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में ।
 फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा ॥२१२॥
 एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की ।
 वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो ॥
 ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे ।
 तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का ॥२१३॥
 स्वयं परिणामित एक वस्तु यदि परवस्तु का ।
 कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है ॥
 वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो ।
 एक दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है ॥२१४॥
 एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो - ऐसा ।
 भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को ॥
 शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने ।
 फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं ॥२१५॥
 शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणामन होता ।
 वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते ॥
 अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती ।
 त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के ॥२१६॥
 तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई !

ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो ॥
 ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को,
 मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो ॥२१७॥
 यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय ।
 हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये ॥
 तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को ।
 हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित ॥२१८॥
 तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई ।
 कर्त्ता-धर्त्ता कोई अन्य नहीं हो सकता ॥
 क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में ।
 द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है ॥२१९॥
 राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आत्म में ।
 उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है ॥
 यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्त्ता ।
 यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयंज्ञान हूँ ॥२२०॥
 अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को ।
 एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी ॥
 शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में ।
 अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे ॥२२१॥
 जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित ।
 वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो ॥
 फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं ।
 न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं ॥२२२॥
 राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से ।
 मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं ॥
 और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता ।

को धारण कर निज में नित्य मगन रहते
 ह ॥ १ २ ३ ॥
 ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञान को करे प्रकाशित ।
 शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञान चेतना ॥
 और बंध की कर्त्ता यह अज्ञान चेतना ।
 यही जान चेतो आत्म नित ज्ञान चेतना ॥२२४॥
 भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत ।
 कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से ॥
 सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से ।
 अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव का ॥२२५॥
 मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो ।
 उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२६॥
 मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो ।
 उन सबका आलोचन करके ही अब
 म त ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२७॥
 नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं ।
 करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२८॥
 तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह ।
 परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर ॥
 निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२९॥

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही ।
 खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं ॥
 क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२३०॥
 सब कर्मों के फल से सन्यासी होने से ।
 आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो ॥
 चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ ।
 यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित इस काल तक ॥२३१॥
 (वसंततिलका)
 रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के ।
 अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते हैं ॥
 हो तृप्त स्वयं में चिरकाल तक वे ।
 निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं ॥२३२॥
 रे कर्मफल से सन्यास लेकर ।
 सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ ॥
 प्याला पियो नित प्रशमरस का निरन्तर ।
 सुख में रहो अभी से चिरकालतक तुम ॥२३३॥
 (दोहा)
 अपने में ही मगन है अचल अनाकुल ज्ञान ।
 यद्यपि जाने ज्ञेय को तदपि भिन्न ही जान ॥२३४॥
 (हरिगीत)
 है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्याग से ।
 यह ज्ञाननिधिनिज में नियत वस्तुत्व को धारण किये ॥
 है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन ।
 होसहज महिमाप्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन ॥२३५॥

जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों को स्वयं में ।
 सब ओर से धारण किया हो स्वयं को ही स्वयं में ॥
 मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया ।
 अर जो ग्रहण के योग्य वह सब भी उन्हीं ने पालिया ॥२३६॥
 (सोरठा)
 ज्ञानस्वभावी जीव परद्रव्यों से भिन्न ही ।
 कैसे कहें सदेह जब आहारक ही नहीं ॥२३७॥
 शुद्धज्ञानमय जीव के जब देह नहीं कही ।
 तब फिर यह द्रवलिङ्ग शिवमग कैसे हो सके ॥२३८॥
 (दोहा)
 मोक्षमार्ग बस एक ही रत्नत्रयमय होय ।
 अतः मुमुक्षु के लिए वह ही सेवन योग्य ॥२३९॥
 (हरिगीत)
 दृग्ज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ ।
 थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ॥
 जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत ।
 वे पुरुष ही अतिशीघ्र ही समैसार को पावे
 उ दि द त । । २ ४ ० । ।
 जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें ।
 तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिङ्ग में ममता धरें ॥
 वे नहीं देखें आत्मा निज अमल एक उद्योतमय ।
 अर अखण्ड अभेदचिन्मय अज अतुल आलोकमय ॥२४१॥
 तुष माँहि मोहित जगतजन ज्यों एक तुष ही जानते ।
 वे मूढ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते ॥
 व्यवहारमोहित मूढ त्यों व्यवहार को ही जानते ।

आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते ॥२४२॥
 यद्यपि परद्रव्य है द्रवलिंग फिर भी अजज्ञन ।
 बस उसी में ममता धरें द्रवलिंग मोहित अन्धजन ॥
 देखें नहीं जाने नहीं सुखमय समय के सार को ।
 बस इसलिए ही अज्ञजन पाते नहीं भवपार को ॥२४३॥
 क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से ।
 बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो ॥
 क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से ।
 कुछ भी नहीं है अधिक सुनलो इस समय के सार से ॥२४४॥

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को करता हुआ प्रत्यक्ष ।
 अरे पूर्ण अब हो रहा यह अक्षय जगचक्षु ॥२४५॥
 इसप्रकार यह आत्मा अचल अबाधित एक ।
 ज्ञानमात्र निश्चित हुआ जो अखण्ड संवेद्य ॥२४६॥

परिशिष्ट

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया कुछ भी रहा न शेष ।
 फिर भी इस परिशिष्ट में सहज प्रमेय विशेष ॥
 सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय
 भ । व म य ।
 ज्ञानमात्र आत्म समझाते स्याद्वाद से ॥
 परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके ।
 परमज्ञानमय परमात्म का चिन्तन करते ॥२४७॥

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया निजव्यक्तता से रिक्त जो ।

वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है ॥
 पर से विमुख हो स्वोन्मुख सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो ।
 'स्वरूप से ही ज्ञान है' – इस मान्यता से पुष्ट है ॥२४८॥
 इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है ।
 अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें ॥
 अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं ।
 वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें ॥२४९॥
 छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से ।
 खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु ॥
 एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दें ।
 वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें ॥२५०॥
 जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से ।
 स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों ॥
 अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं ।
 वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित तत्त्व का अनुभव करें ॥२५१॥
 इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ में ।
 एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखें नहीं ॥
 निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें ।
 वे स्याद्वादी ज्ञान से परिपूर्ण हो जीवित रहें ॥२५२॥
 सब द्रव्यमय निज आत्मा यह जगत की
 द ु व ा ' स न ा ।
 बस रत रहे परद्रव्य में स्वद्रव्य के भ्रमबोध से ॥
 परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकार सब द्रव्य में ।
 निजज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में ॥२५३॥

परक्षेत्रव्यापीज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय ।
 यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन ॥
 जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होते नहीं ।
 वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें ॥२५४॥
 मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत ।
 जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर ॥
 हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत ।
 रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़े नहीं ॥२५५॥
 निजज्ञान के अज्ञान से गतकाल में जाने गये ।
 जो ज्ञेय उनके नाश से निज नाश माने अज्ञजन ॥
 नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे ।
 निजकाल से अस्तित्व है - यह जानते हैं
 विज्ञान । । २ ५ ६ । ।
 अर्थालम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है ।
 यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें ॥
 परकाल से नास्तित्व लखकर स्याद्वादी विज्ञजन ।
 ज्ञानमय आनन्दमय निज आतमा में दृढ़ रहें ॥२५७॥
 परभाव से निजभाव का अस्तित्व माने अज्ञजन ।
 पर में रमें जग में भ्रमे निज आतमा को भूलकर ॥
 पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमे निजभाव में ।
 बस इसलिए इस लोक में वे सदा ही जीवित
 रहें । । २ ५ ८ । ।
 सब ज्ञेय ही हैं आतमा यह मानकर स्वच्छन्द
 ह । ।
 परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों ॥

पर स्याद्वादी तो सदा आरूढ़ हैं निजभाव में ।
 विरहित सदा परभाव से विलसैं सदा निष्कम्प हो ॥२५९॥
 उत्पाद-व्यय के रूप में वहते हुए परिणाम लख ।
 क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन ॥
 चैतन्यमय निज आतमा क्षणभंग है पर नित्य भी-
 यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन ॥२६०॥
 है बोध जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से ।
 चिद्व्यवस्थिति निर्मल उछलती से सतत् इन्कार कर ॥
 अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन ।
 अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें ॥२६१॥

(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह ज्ञानमात्र समझाय ।
 अनेकान्त अनुभूति में उतरा आतमराय ॥२६२॥
 अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य ।
 वस्तुव्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध ॥२६३॥

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है ।
 फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती ॥
 और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर ।
 द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में ॥२६४॥
 अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते ।
 वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन ॥
 स्याद्वादकी अधिकाधिक शुद्धिको लख अर ।
 नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते ॥२६५॥

(वसंततिलका)

रे ज्ञानमात्र निज भाव अकंपभूमि ।

को प्राप्त करते जो अपनीतमोही ॥
 साधकपने को पा वे सिद्ध होते ।
 अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते ॥२६६॥
 स्याद्वादकौशल तथा संयम सुनिश्चिल ।
 से ही सदा जो निज में जमे हैं ॥
 वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से ।
 सुपात्र हो पाते भूमिका को ॥२६७॥
 उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता ।
 चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से ॥
 जो अस्खलित है आनन्दमय वह ।
 होता उदित अद्भुत अचल आतम ॥२६८॥
 महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित ।
 स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब ॥
 तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों ।
 से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ ॥२६९॥
 निज शक्तियों का समुदाय आतम ।
 विनष्ट होता नयदृष्टियों से ॥
 खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं ।
 एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं ॥२७०॥
 (रोला)
 परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर ।
 मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो ॥
 ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से ।
 परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र
 हूँ । । २ ७ १ । ।

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता ।
 कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है ॥
 अनंत शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी ।
 दृष्टिवंत को भ्रमित नहीं होने देता है ॥२७२॥
 एक ओर से एक स्वयं में सीमित अर ध्रुव ।
 अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है ॥
 अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो ।
 जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते ॥२७३॥
 एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता ।
 अन्य ओर से भव-भवपीडित राग-द्वेषमय ॥
 तीन लोकापार शक्तिन देना विविध नामों से ।

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है । इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है । इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही । अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है ।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है । इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है । जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है ।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें ।

प्रवचनसार पद्यानुवाद

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

मंगलाचरण एवं पीठिका

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
 वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥
 अवशेष तीर्थकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन ।
 मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन ॥२॥
 उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को ।
 मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ॥३॥
 अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण ।
 अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन ॥४॥
 परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर ।
 निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ ॥५॥
 निर्वाण पावें सुर-असुर-नरराज के वैभव सहित ।
 यदि ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र सम्यक् प्राप्त हो ॥६॥
 चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
 दृगमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥
 जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित ।
 हो उसीमय वह धर्मपरिणत आतमा ही धर्म है ॥८॥
 स्वभाव से परिणाममयजिय अशुभ परिणत हो अशुभ ।
 शुभभाव परिणत शुभ तथा शुधभाव परिणत शुद्ध है ॥९॥
 परिणाम बिन ना अर्थ है अर अर्थ बिन परिणाम ना ।
 अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ॥१०॥
 प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा ।
 पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ॥११॥

अशुभोपयोगी आतमा हो नारकी तिर्यग कुनर ।
 संसार में रुलता रहे अर सहस्रों दुख भोगता ॥१२॥

शुद्धोपयोगाधिकार

शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख ।
 है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविच्छिन्न है ॥१३॥
 हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद् ।
 शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुःख में ॥१४॥
 शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज ।
 स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते ॥१५॥
 त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञजिन ।
 स्वयं ही हो गये तातैं स्वयम्भू सब जन कहें ॥१६॥
 यद्यपि उत्पाद बिन व्यय व्यय बिना उत्पाद है ।
 तथापी उत्पादव्ययथिति का सहज समवाय है ॥१७॥
 सभी द्रव्यों में सदा ही होंय रे उत्पाद-व्यय ।
 ध्रुव भी रहे प्रत्येक वस्तु रे किसी पर्याय से ॥१८॥
 असुरेन्द्र और सुरेन्द्र को जो इष्ट सर्व वरिष्ठ हैं ।
 उन सिद्ध के श्रद्धालुओं के सर्व कष्ट विनष्ट हों ॥१९॥
 अतीन्द्रिय हो गये जिनके ज्ञान सुख वे स्वयंभू ।
 जिन क्षीणघातिकर्म तेज महान उत्तम वीर्य हैं ॥२०॥
 अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए ।
 केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं परमार्थ से ॥२०॥

ज्ञानाधिकार

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत ।
 प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ॥२१॥
 सर्वात्मगुण से सहित हैं अर जो अतीन्द्रिय हो गये ।
 परोक्ष कुछ भी है नहीं उन केवली भगवान के ॥२२॥

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
 हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥२३॥
 अरे जिनकी मान्यता में आत्म ज्ञानप्रमाण ना ।
 तो ज्ञान से वह हीन अथवा अधिक होना चाहिए ॥२४॥
 ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह ।
 ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ॥२५॥
 हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे ।
 जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ॥२६॥
 रे आतमा के बिना जग में ज्ञान हो सकता नहीं ।
 है ज्ञान आतम किन्तु आतम ज्ञान भी है अन्य भी ॥२७॥
 रूप को ज्यों चक्षु जाने परस्पर अप्रविष्ट रह ।
 त्यों आत्म ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थ उसके ज्ञेय हैं ॥२८॥
 प्रविष्ट रह अप्रविष्ट रह ज्यों चक्षु जाने रूप को ।
 त्यों अतीन्द्रिय आत्मा भी जानता सम्पूर्ण जग ॥२९॥
 ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से ।
 त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निःशेष ज्ञेय पदार्थ में ॥३०॥
 वे अर्थ ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत ।
 ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत ॥३१॥
 केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें ।
 चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते ॥३२॥
 श्रुतज्ञान से जो जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा ।
 श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥३३॥
 जिनवरकथित पुद्गल वचन ही सूत्र उसकी ज्ञप्ति ही ।
 है ज्ञान उसको केवली जिनसूत्र की ज्ञप्ति कहें ॥३४॥
 जो जानता सो ज्ञान आतम ज्ञान से ज्ञायक नहीं ।
 स्वयं परिणत ज्ञान में सब अर्थ थिति धारण करें ॥३५॥

जीव ही है ज्ञान ज्ञेय त्रिधावर्णित द्रव्य हैं ।
 वे द्रव्य आतम और पर परिणाम से संबद्ध हैं ॥३६॥
 असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।
 सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥३७॥
 पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
 असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३८॥
 पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
 फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥३९॥
 जो इन्द्रियगोचर अर्थ को ईहादिपूर्वक जानते ।
 वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें ॥४०॥
 सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को ।
 अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही ॥४१॥
 ज्ञेयार्थमय जो परिणमे ना उसे क्षायिक ज्ञान हो ।
 कहें जिनवरदेव कि वह कर्म का ही अनुभवी ॥४२॥
 जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं ।
 वह राग-द्वेष-विमोह बस नित वंध का अनुभव करे ॥४३॥
 यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों ।
 हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरिहंत के ॥४४॥
 पुण्यफल अरिहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही ।
 मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ॥४५॥
 यदी स्वयं स्वभाव से शुभ-अशुभरूप न परिणमें ।
 तो सर्व जीवनिकाय के संसार भी ना सिद्ध हो ॥४६॥
 जो तात्कालिक अतात्कालिक विचित्र विषमपदार्थ को ।
 चहुं ओर से इक साथ जाने वही क्षायिक ज्ञान है ॥४७॥
 जाने नहीं युगपद् त्रिकालिक अर्थ जो त्रैलोक्य के ।
 वह जान सकता है नहीं पर्यय सहित इक द्रव्य को ॥४८॥

इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो ।
 फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ॥४९॥
 पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमशः जानता ।
 वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं ॥५०॥
 सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के ।
 जाने सदा सब अर्थ युगपद् विषम विविध प्रकार के ॥५१॥
 सवार्थ जाने जीव पर अनरूप न परिणमित हो ।
 बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥५२॥
 नमन करते जिन्हें नरपति सुर-असुरपति भक्तगण ।
 मैं भी उन्हीं सर्वज्ञजिन के चरण में करता नमन ॥२॥*

सुखाधिकार

मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख ।
 इनमें अमूर्त अतीन्द्रियी ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं ॥५३॥
 अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को ।
 स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है ॥५४॥
 यह मूर्ततनगत जीव मूर्तपदार्थ जाने मूर्त से ।
 अवग्रहादिकपूर्वक अर कभी जाने भी नहीं ॥५५॥
 पौद्गलिक स्पर्श रस गंध वर्ण अर शब्दादि को ।
 भी इन्द्रियाँ इक साथ देखो ग्रहण कर सकती नहीं ॥५६॥
 इन्द्रियाँ परद्रव्य उनको आत्मस्वभाव नहीं कहा ।
 अर जो उन्हीं से ज्ञात वह प्रत्यक्ष कैसे हो सके ? ॥५७॥
 जो दूसरों से ज्ञात हो बस वह परोक्ष कहा गया ।
 केवल स्वयं से ज्ञात जो वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष है ॥५८॥
 स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित ।
 अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने ॥५९॥

अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा ।
 क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ॥६०॥
 अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है ।
 नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं ॥६१॥
 घातियों से रहित सुख ही परमसुख यह श्रवण कर ।
 भी न करें श्रद्धान तो वे अभवि भवि श्रद्धा करें ॥६२॥
 नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से ।
 पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें ॥६३॥
 पंचेन्द्रियविषयों में रती वे हैं स्वभाविक दुःखीजन ।
 दुःख के बिना विषयविषय में व्यापार हो सकता नहीं ॥६४॥
 इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से ।
 सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं ॥६५॥
 स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को ।
 सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ॥६६॥
 तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करें ।
 जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें ॥६७॥
 जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है ।
 बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुखरु देव हैं ॥६८॥
 प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं ।
 तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरिहंत हैं ॥३॥*
 हो नमन बारम्बार सुरनरनाथ पद से रहित जो ।
 अपुनर्भावी सिद्धगण गुण से अधिक भव रहित जो ॥४॥*

शुभपरिणामाधिकार

देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में ।
 अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आत्मा ॥६९॥

अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति ।
 अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ॥७०॥
 उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख ।
 तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे ॥७१॥
 नर-नारकी तिर्यच सुर यदि देहसंभव दुःख को ।
 अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ ? ॥७२॥
 वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते ।
 देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे ॥७३॥
 शुभभाव से उत्पन्न विध-विध पुण्य यदि विद्यमान हैं ।
 तो वे सभी सुरलोक में विषयेषणा पैदा करें ॥७४॥
 अरे जिनकी उदित तृष्णा दुःख से संतप्त वे ।
 हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते ॥७५॥
 इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है ।
 है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥७६॥
 पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है - जो न माने बात ये ।
 संसार-सागर में भ्रमों मद-मोह से आच्छन्न वे ॥७७॥
 विदितार्थजन परद्रव्य में जो राग-द्वेष नहीं करें ।
 शुद्धोपयोगी जीव वे तनजनित दुःख को क्षय करें ॥७८॥
 सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें ।
 पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धात्मा को ना लहें ॥७९॥
 हो स्वर्ग अर अपवर्ग पथदर्शक जिनेश्वर आपही ।
 लोकाग्रथित तपसंयमी सुर-असुर वंदित आपही ॥८०॥
 देवेन्द्रों के देव यतिवरवृषभ तुम त्रैलोक्यगुरु ।
 जो नमें तुमको वे मनुज सुख संपदा अक्षय लहें ॥८१॥
 द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को ।
 वे जानते निज आत्मा दृगमोह उनका नाश हो ॥८०॥

जो जीव व्यपगत मोह हो - निज आत्म उपलब्धि करें ।
 वे छोड़ दें यदि राग रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें ॥८१॥
 सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।
 सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥८२॥
 अरे समकित ज्ञान सम्यक्चरण से परिपूर्ण जो ।
 सत्कार पूजा दान के वे पात्र उनको नमन हो ॥८३॥
 द्रव्यादि में जो मूढ़ता वह मोह उसके जोर से ।
 कर राग-रुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुंओर से ॥८४॥
 बंध होता विविध मोहरु क्षोभ परिणत जीव के ।
 बस इसलिए सम्पूर्णतः वे नाश करने योग्य हैं ॥८५॥
 अयथार्थ जाने तत्त्व को अति रती विषयों के प्रति ।
 और करुणाभाव ये सब मोह के ही चिह्न हैं ॥८६॥
 तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से ।
 दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥८७॥
 द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं अर्थ सब जिनवर कहें ।
 अर द्रव्य गुण-पर्यायमय ही भिन्न वस्तु है नहीं ॥८८॥
 जिनदेव का उपदेश यह जो हने मोहरु क्षोभ को ।
 वह बहुत थोड़े काल में ही सब दुखों से मुक्त हो ॥८९॥
 जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को ।
 वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ॥९०॥
 निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से ।
 तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ॥९१॥
 द्रव्य जो सविशेष सत्तामयी उसकी दृष्टि ना ।
 तो श्रमण हो पर उस श्रमण से धर्म का उद्भव नहीं ॥९२॥
 आगमकुशल दृगमोहहत आरूढ़ हों चारित्र में ।
 बस उन महात्मन श्रमण को ही धर्म कहते शास्त्र में ॥९३॥

देखकर संतुष्ट हो उठ नमन वन्दन जो करे।
वह भव्य उनसे सदा ही सद्धर्म की प्राप्ति करे ॥८॥
उस धर्म से तिर्यंच नर नरसुरगति को प्राप्त कर।
ऐश्वर्य-वैभववान अर पूरण मनोरथवान हों ॥९॥

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनमहाधिकार

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर।
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह ॥१०॥
गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय।
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय ॥१३॥
पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में।
थित जीव ही हैं स्वसमय - यह कहा जिनवरदेव ने ॥१४॥
निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें ॥१५॥
गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है ॥१६॥
रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने ॥१७॥
स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है।
यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये ॥१८॥
स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो।
उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है ॥१९॥
भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन ॥२०॥
पर्याय में उत्पादव्ययध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं।
बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं ॥२०१॥

उत्पादव्ययथिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल।
बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब ॥१०२॥
उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही।
पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो ॥१०३॥
गुण से गुणान्तर परिणामें द्रव्य स्वयं सत्ता अपेक्षा।
इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा ॥१०४॥
यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से।
किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥१०५॥
जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों ॥१०६॥
सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है।
तदरूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है ॥१०७॥
द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह।
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है ॥१०८॥
परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा।
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ॥१०९॥
पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं।
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥११०॥
पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से।
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा ॥१११॥
परिणामित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह ॥११२॥
मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं।
ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह ॥११३॥
द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है।
पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है ॥११४॥

अपेक्षा से द्रव्य 'है' 'है नहीं' 'अनिर्वचनीय है' ।
 'है है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं ॥११५॥
 पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो ।
 है अफल परमधरम परन्तु क्रिया अफल नहीं कही ॥११६॥
 नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को ।
 नर नारकी तिर्यच सुर पर्याय में दाखिल करे ॥११७॥
 नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गति में ।
 स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं ॥११८॥
 उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पादव्ययमय लोक में ।
 अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी ॥११९॥
 स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं ।
 संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है ॥१२०॥
 कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को ।
 कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म है ॥१२१॥
 परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया ।
 वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रवकर्म का कर्ता नहीं ॥१२२॥
 करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना ।
 ये तीन इनके रूप में ही परिणामे यह आत्मा ॥१२३॥
 ज्ञान अर्थविकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है ।
 अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुःख हैं ॥१२४॥
 ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम तीन प्रकार हैं ।
 आत्मा परिणाममय परिणाम ही हैं आत्मा ॥१२५॥
 जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करम कर्मरु कर्मफल ।
 ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे ॥१२६॥

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय ।
 पुद्गलादी अचेतन हैं अतःएव अजीव हैं ॥१२७॥
 आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से ।
 अर काल से समृद्ध है वह लोक शेष अलोक है ॥१२८॥
 जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से ।
 भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों ॥१२९॥
 जिन चिह्नों से द्रव ज्ञात हों रे जीव और अजीव में ।
 वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से ॥१३०॥
 इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त गुण पुद्गलमयी ।
 अमूर्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्तिक जानना ॥१३१॥
 सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें ।
 स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं ॥१३२॥
 आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन ।
 स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने ॥१३३॥
 उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का ।
 है अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन यह संक्षेप में ॥१३४॥ युगलम् ॥
 हैं बहुप्रदेशी जीव पुद्गल गगन धर्माधर्म सब ।
 है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन ॥१३५॥
 कालद्रव को छोड़कर अवशेष अस्तिकाय हैं ।
 बहुप्रदेशीपना ही है काय जिनवर ने कहा ॥१३६॥
 गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से ।
 है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं ॥१३६॥
 जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का ।
 बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से ॥१३७॥

पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
 रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह ॥१३८॥
 परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में।
 उत्पन्न-ध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है ॥१३९॥
 अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है।
 अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब ॥१४०॥
 एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं।
 काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं ॥१४१॥
 इस समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं।
 तो काल द्रव्यस्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो ॥१४२॥
 इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो अर्थ हैं।
 वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है ॥१४३॥
 जिस अर्थ का इस लोक में ना एक ही परदेश हो।
 वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो ॥१४४॥

ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार

सप्रदेशपदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये।
 जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है ॥१४५॥
 इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के।
 हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमे ॥१४६॥
 पाँच इन्द्रिय प्राण मन-वच-काय त्रय बल प्राण हैं।
 आयु श्वासोच्छ्वास जिनवर कहे ये दश प्राण हैं ॥१२॥
 जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है।
 इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी ॥१४७॥
 मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे।
 अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे ॥१४८॥

मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे।
 पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे ॥१४९॥
 ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।
 कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे ॥१५०॥
 उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे।
 इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करें ॥१५१॥
 अस्तित्व निश्चित अर्थ की अन्य अर्थ के संयोग से।
 जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय ॥१५२॥
 तिर्यच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के।
 उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार कीं ॥१५३॥
 त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से।
 वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी ॥१५४॥
 आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं।
 अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के ॥१५५॥
 उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का।
 शुभ-अशुभ दोनों ही न हो तो कर्म का बंधन न हो ॥१५६॥
 श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को।
 जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ ॥१५७॥
 अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में।
 श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में ॥१५८॥
 आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो।
 ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में ॥१५९॥
 देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं।
 ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ ॥१६०॥
 देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे।
 ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं ॥१६१॥

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हैं इन्हें।
 मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं ॥१६२॥
 अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं।
 अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं ॥१६३॥
 परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए।
 अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से ॥१६४॥
 परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
 अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो ॥१६५॥
 दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हों यदि चार तो।
 हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो ॥१६६॥
 यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्ष्म-थूल हों संस्थान में।
 तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से ॥१६७॥
 भरा है यह लोक सूक्ष्म-थूल योग्य-अयोग्य जो।
 कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खंध के संयोग से ॥१६८॥
 स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति।
 पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें ॥१६९॥
 कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर।
 को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुनः वे जीव की ॥१७०॥
 यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण।
 तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय ॥१७१॥
 चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
 जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥१७२॥
 मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से।
 अमूर्त आतम मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह ॥१७३॥
 जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को।
 बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ॥१७४॥

प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के।
 रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे ॥१७५॥
 जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह।
 उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे ॥१७६॥
 स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से।
 जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से ॥१७७॥
 आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला।
 परविष्ट हों अर बंधें अर वे यथायोग्य रहा करें ॥१७८॥
 रागी बाँधे कर्म छोटे राग से जो रहित है।
 यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह ॥१७९॥
 राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो।
 राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही ॥१८०॥
 पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है।
 पर दुःखक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है ॥१८१॥
 पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं।
 वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है ॥१८२॥
 जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से।
 वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह' ॥१८३॥
 निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा।
 और पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं ॥१८४॥
 जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को।
 जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ॥१८५॥
 भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा।
 रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता छूटता ॥१८६॥
 रागादियुत जब आतमा परिणमे अशुभ-शुभ भाव में।
 तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े ॥१८७॥

विशुद्धतम परिणाम से शुभतम करम का बंध हो ।
 संक्लेशतम से अशुभतम अर जघन हो विपरीत से ॥१३॥*
 सप्रदेशी आतमा रुस-राग-मोह कषाययुत ।
 हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा ॥१८८॥
 यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से ।
 नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है ॥१८९॥
 तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही ।
 ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ॥१९०॥
 पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा ।
 जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ॥१९१॥
 इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी ।
 ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ॥१९२॥
 अरि-मित्रजनधन्य-धान्यसुख-दुखदेहकुछभी ध्रुव नहीं ।
 इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ॥१९३॥
 यह जान जो शुद्धातमा ध्यावें सदा परमातमा ।
 दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा ॥१९४॥
 मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में ।
 समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें ॥१९५॥
 आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे ।
 स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे ॥१९६॥
 घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को ।
 संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को ॥१९७॥
 अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं ।
 चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ॥१९८॥
 निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने ।
 निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ॥१९९॥

इसलिए इस विधि आतमा ज्ञायकस्वभावी जानकर ।
 निर्ममत्व में स्थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ॥२००॥
 सुशुद्धदर्शनज्ञानमय उपयोग अन्तरलीन जिन ।
 बाधारहित सुखसहित साधु सिद्ध को शत्-शत् नमन ॥१४॥*
 चरणानुयोगसूचक चूलिका महाधिकार
 आचरणप्रज्ञापनाधिकार
 हे भव्यजन ! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते ।
 परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो ॥२०१॥
 वृद्धजन तिय-पुत्र-बंधुवर्ग से ले अनुमति ।
 वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर ॥२०२॥
 रूप कुल वयवान गुणमय श्रमणजन को इष्ट जो ।
 ऐसे गणी को नमन करके शरण ले अनुग्रहीत हो ॥२०३॥
 रे दूसरों का मैं नहीं ना दूसरे मेरे रहे ।
 संकल्प कर हो जितेन्द्रिय नम्रत्व को धारण करें ॥२०४॥
 शृंगार अर हिंसा रहित अर केशलुंचन अकिंचन ।
 यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिलिंग है ॥२०५॥
 आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित ।
 शुधयोग अर उपयोगसेजिनकथित अंतरलिंग है ॥२०६॥ युग्मम् ॥
 जो परमगुरुनम लिंग दोनों प्राप्त कर व्रत आचरें ।
 आत्मथित वे श्रमण ही बस यथायोग्य क्रिया करें ॥२०७॥
 व्रत समिति इन्द्रिय रोध लुंचन अचेलक अस्नान व्रत ।
 ना दन्त-धोवन क्षिति-शयन अर खड़े हो भोजन करें ॥२०८॥
 दिन में करें इकबार ही ये मूलगुण जिनवर कहें ।
 इनमें रहे नित लीन जो छेदोपथापक श्रमण वह ॥२०९॥ युग्मम् ॥
 दीक्षा समय जो दें प्रव्रज्या वे गुरु दो भेदयुत ।
 छेदोपथापक श्रमण हैं अर शेष सब निर्यापका ॥२१०॥

यदि यत्नपूर्वक रहें पर देहिक क्रिया में छेद हो।
 आलोचना द्वारा अरे उसका करें परिमार्जन ॥२११॥
 किन्तु यदि यति छेद में उपयुक्त होकर भ्रष्ट हों।
 तो योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करें आलोचना ॥२१२॥युग्मम्॥
 हे श्रमणजन! अधिवास में या विवास में बसते हुए।
 प्रतिबंध के परिहारपूर्वक छेदविरहित ही रहो ॥२१३॥
 रे ज्ञान-दर्शन में सदा प्रतिबद्ध एवं मूलगुण।
 जो यत्नतः पालन करें बस हैं वही पूरण श्रमण ॥२१४॥
 आवास में उपवास में आहार विकथा उपधि में।
 श्रमणजन व विहार में प्रतिबंध न चाहें श्रमण ॥२१५॥
 शयन आसन खड़े रहना गमन आदिक क्रिया में।
 यदि अयत्नाचार है तो सदा हिंसा जानना ॥२१६॥
 प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से।
 तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥२१७॥
 हो गमन ईर्यासमिति से पर पैर के संयोग से।
 हों जीव बाधित या मरण हो फिर भी उनके योग से ॥१५॥*
 ना बंध हो उस निमित्त से ऐसा कहा जिनशास्त्र में।
 क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह अध्यात्म के आधार में ॥१६॥युग्मम्॥*
 जलकमलवत् निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से।
 पर अयत्नाचारि तो षट्काय के हिंसक कहे ॥२१८॥
 बंध हो या न भी हो जिय मरे तन की क्रिया से।
 पर परिग्रह से बंध हो बस उसे छोड़े श्रमणजन ॥२१९॥
 यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो।
 तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो ॥२२०॥
 वस्त्र वर्तन यति रखें यदि यह किसी के सूत्र में।
 ही कहा हो तो बताओ यति निरारंभी किसतरह ॥१७॥*

रे वस्त्र वर्तन आदि को जो ग्रहण करता है श्रमण।
 नित चित्त में विक्षेप प्राणारंभ नित उसके रहे ॥१८॥*
 यदि वस्त्र वर्तन ग्रहे धोवे सुखावे रक्षा करे।
 खो न जावे डर सतावे सतत ही उस श्रमण को ॥१९॥*
 उपधि के सद्भाव में आरंभ मूर्च्छा असंयम।
 हो फिर कहो परद्रव्यरत निज आत्म साथे किसतरह ॥२२१॥
 छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह।
 हो विसर्जन नीहार का भी क्षेत्र काल विचार कर ॥२२२॥
 मूर्च्छादि उत्पादन रहित चाहे जिसे न असंयमी।
 अत्यल्प हो ऐसी उपधि ही अनिन्दित अनिषिद्ध है ॥२२३॥
 जब देह भी है परिग्रह उसको सजाना उचित ना।
 तो किसतरह हो अन्य सब जिनदेव ने ऐसा कहा ॥२२४॥
 लोक अर परलोक से निरपेक्ष है जब यह धरम।
 पृथक् से तब क्यों कहा है नारियों के लिंग को ॥२०॥*
 नारियों को उसी भव में मोक्ष होता ही नहीं।
 आवरणयुत लिंग उनको इसलिए ही कहा है ॥२१॥*
 प्रकृतिजन्य प्रमादमय होती है उनकी परिणति।
 प्रमादबहुला नारियों को इसलिए प्रमदा कहा ॥२२॥*
 नारियों के हृदय में हों मोह द्वेष भय घृणा।
 माया अनेकप्रकार की बस इसलिए निर्वाण ना ॥२३॥*
 एक भी है दोष ना जो नारियों में नहीं हो।
 अंग भी ना ढके हैं अतएव आवरणी कही ॥२४॥*
 चित्त चंचल शिथिल तन अर रक्त आवे अचानक।
 और उनके सूक्ष्म मानव सदा ही उत्पन्न हों ॥२५॥*
 योनि नाभि काँख एवं स्तनों के मध्य में।
 सूक्ष्म जिय उत्पन्न होते रहें उनके नित्य ही ॥२६॥*

अरे दर्शन शुद्ध हो अर सूत्र अध्ययन भी करें।
घोर चारित्र आचरे पर ना नारियों के निर्जरा ॥२७॥*
इसलिए उनके लिंग को बस सपट ही जिनवर कहा।
कुलरूप वययुत विज्ञ श्रमणी कही जाती आर्यिका ॥२८॥*
त्रिवर्णी नीरोग तप के योग्य वय से युक्त हों।
सुमुख निन्दा रहित नर ही दीक्षा के योग्य हैं ॥२९॥*
रतनत्रय का नाश ही है भंग जिनवर ने कहा।
भंगयुत हो श्रमण तो सल्लेखना के योग्य ना ॥३०॥*
जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन।
आगम पठन हैं उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन ॥२२५॥
इहलोक से निरपेक्ष यति परलोक से प्रतिबद्ध ना।
अर कषायों से रहित युक्ताहार और विहार में ॥२२६॥
चार विकथा कषायें अर इन्द्रियों के विषय में।
रत श्रमण निद्रा-नेह में परमत्त होता है श्रमण ॥३१॥*
अरे भिक्षा मुनिवरो की ऐसणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ॥२२७॥
तनमात्र ही है परिग्रह ममता नहीं है देह में।
शृंगार बिन शक्ति छुपाये बिना तप में जोड़ते ॥२२८॥
इकबार भिक्षाचरण से जैसा मिले मधु-मांस बिन।
अधपेट दिन में लें श्रमण बस यही युक्ताहार है ॥२२९॥
पकते हुए अर पके कच्चे माँस में उस जाति के।
सदा ही उत्पन्न होते हैं निगोदी जीव वस ॥३२॥*
जो पके कच्चे माँस को खावें छुयें वे नारि-नर।
जीवजन्तु करोड़ों को मारते हैं निरन्तर ॥३३॥*
जिनागम अविरुद्ध जो आहार होवे हस्तगत।
नहीं देवे दूसरों को दे तो प्रायश्चित योग्य है ॥३४॥*

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही।
वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें ॥२३०॥
श्रमण श्रम क्षमता उपधि लख देश एवं काल को।
जानकर वर्तन करें तो अल्पलेपी जानिये ॥२३१॥
मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार
स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।
भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ॥२३२॥
जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहीं जानते।
वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहीं जानते ॥२३३॥
साधु आगमचक्षु इन्द्रियचक्षु तो सब लोक है।
देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं ॥२३४॥
जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित।
जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर सार्धें स्वहित ॥२३५॥
जिनागम अनुसार जिनकी दृष्टि न वे असंयमी।
यह जिनागम का कथन है वे श्रमण कैसे हो सकें ॥२३६॥
जिनागम से अर्थ का श्रद्धान ना सिद्धि नहीं।
श्रद्धान हो पर असंयत निर्वाण को पाता नहीं ॥२३७॥
विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें स्वासोच्छ्वास में।
ना अज्ञ उतने कर्म नाशे भव हजार करोड़ में ॥२३८॥
देहादि में अणुमात्र मूर्च्छा रहे यदि तो नियम से।
वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं ॥२३९॥
अनारंभी त्याग विषयविरक्त और कषायक्षय।
ही तपोधन संत का सम्पूर्णतः संयम कहा ॥३५॥*
तीन गुप्ति पाँच समिति सहित पंचेन्द्रियजयी।
ज्ञानदर्शनमय श्रमण ही जितकषायी संयमी ॥२४०॥

कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में।
 शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥२४१॥
 ज्ञानदर्शनचरण में युगपत सदा आरूढ़ हो।
 एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं ॥२४२॥
 अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेषमय।
 जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब ॥२४३॥
 मोहित न हो जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें।
 वे श्रमण ही नियम से क्षय करें विध-विध कर्म सब ॥२४४॥

शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार

शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण।
 शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ॥२४५॥
 वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में।
 बस यही चर्या श्रमणजन की कही शुभ उपयोग है ॥२४६॥
 श्रमणजन के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन।
 विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं हैं जिनमार्ग में ॥२४७॥
 उपदेश दर्शन-ज्ञान-पूजन शिष्यजन का परिग्रहण।
 और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण ॥२४८॥
 तनविराधन रहित कोई श्रमण पर उपकार में।
 नित लगा हो तो जानना है राग की ही मुख्यता ॥२४९॥
 जो श्रमण वैयावृत्ति में छहकाय को पीड़ित करें।
 वे गृही ही हैं क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है ॥२५०॥
 दया से सेवा सदा जो श्रमण-श्रावकजनों की।
 करे वह भी अल्पलेपी कहा है जिनमार्ग में ॥२५१॥
 भूखे-प्यासे दुःखीजन लख दुखित मन से जो पुरुष।
 दया से हो द्रवित बस वह भाव अनुकंपा कहा ॥३६॥*

श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रान्त हैं जो श्रमणजन।
 उन्हें लखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत करो ॥२५२॥
 ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से।
 निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से ॥२५३॥
 प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन।
 के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हों ॥२५४॥
 एकविध का बीज विध-विध भूमि के संयोग से।
 विपरीत फल शुभभाव दे बस पात्र के संयोग से ॥२५५॥
 अज्ञानियों से मान्य व्रत-तप देव-गुरु-धर्मादि में।
 रत जीव बाँधे पुण्यहीनरु मोक्ष पद को ना लहें ॥२५६॥
 जाना नहीं परमार्थ अर रत रहें विषय-कषाय में।
 उपकार सेवादान दें तो जाय कुनर-कुदेव में ॥२५७॥
 शास्त्र में ऐसा कहा कि पाप विषय-कषाय हैं।
 जो पुरुष उनमें लीन वे कल्याणकारक किसतरह ॥२५८॥
 समभाव धार्मिकजनों में निष्पाप अर गुणवान हैं।
 सन्मार्गगामी वे श्रमण परमार्थ मग में मगन हैं ॥२५९॥
 शुद्ध अथवा शुभ सहित अर अशुभ से जो रहित हैं।
 वे तार देते लोक उनकी भक्ति से पुणबंध हो ॥२६०॥
 जब दिखें मुनिराज पहले विनय से वर्तन करो।
 भेद करना गुणों से पश्चात् यह उपदेश है ॥२६१॥
 गुणाधिक में खड़े होकर अंजलि को बाँधकर।
 ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन ॥२६२॥
 विशारद सूत्रार्थ संयम-ज्ञान-तप में आढ्य हों।
 उन श्रमणजन को श्रमणजन अति विनय से प्रणमन करें ॥२६३॥
 सूत्र संयम और तप से युक्त हों पर जिनकथित।
 तत्त्वार्थ को ना श्रद्धहैं तो श्रमण ना जिनवर कहें ॥२६४॥

जो श्रमणजन को देखकर विद्वेष से वर्तन करें।
 अपवाद उनका करें तो चारित्र उनका नष्ट हो॥२६५॥
 स्वयं गुण से हीन हों पर जो गुणों से अधिक हों।
 चाहे उनसे नमन तो फिर अनंतसंसारी हैं वे॥२६६॥
 जो स्वयं गुणवान हों पर हीन को वंदन करें।
 दृगमोह में उपयुक्त वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं॥२६७॥
 सूत्रार्थविद जितकषायी अर तपस्वी हैं किन्तु यदि।
 लौकिकजनों की संगति न तजे तो संयत नहीं॥२६८॥
 निर्ग्रन्थ हों तपयुक्त संयमयुक्त हों पर व्यस्त हों।
 इहलोक के व्यवहार में तो उन्हें लौकिक ही कहा॥२६९॥
 यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो।
 गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो॥२७०॥

पंचरत्न अधिकार

अयथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में।
 कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में॥२७१॥
 यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से।
 प्रशान्तात्मा श्रमण वे ना भवभ्रमे चिरकाल तक॥२७२॥
 यथार्थ जाने अर्थ दो विध परिग्रह को छोड़कर।
 ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये॥२७३॥
 है ज्ञान-दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है।
 हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है॥२७४॥
 जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को।
 वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज आत्मा के सार को॥२७५॥

प्रवचनसार कलश पद्यानुवाद

(दोहा)

स्वानुभूति से जो प्रगट सर्वव्यापि चिद्रूप।
 ज्ञान और आनन्दमय नमो परात्मस्वरूप॥१॥
 महामोहतम को करे क्रीड़ा में निस्तेज।
 सब जग आलोकित करे अनेकान्तमय तेज॥२॥
 प्यासे परमानन्द के भव्यों के हित हेतु।
 वृत्ति प्रवचनसार की करता हूँ भवसेतु॥३॥

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब।
 अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा॥
 भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब।
 द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा॥
 मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं।
 सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा॥
 पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये।
 सदा मुक्त रहें अरिहंत परमातमा॥४॥
 विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
 चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
 अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
 विलसत सहजानन्द मय जानिये॥

नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
 शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये ।
 नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
 स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये ॥५॥
 आतमा में विद्यमान ज्ञानतत्त्व पहिचान,
 पूर्णज्ञान प्राप्त करने के शुद्धभाव से ।
 ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के उपरान्त अब,
 ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन करते हैं चाव से ॥
 सामान्य और असामान्य ज्ञेयतत्त्व सब,
 जानने के लिए द्रव्य गुण पर्याय से ।
 मोह अंकुर उत्पन्न न हो इसलिए,
 ज्ञेय का स्वरूप बतलाते विस्तार से ॥६॥
 जिसने बताई भिन्नता भिन्न द्रव्यनि से ।
 और आतमा एक ओर को हटा दिया ॥
 जिसने विशेष किये लीन सामान्य में ।
 और मोहलक्ष्मी को लूट कर भगा दिया ॥
 ऐसे शुद्धनय ने उत्कट विवेक से ही ।
 निज आतमा का स्वभाव समझा दिया ॥
 और सम्पूर्ण इस जग से विरक्त कर ।
 इस आतमा को आतमा में ही लगा दिया ॥७॥
 इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर ।
 करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया ॥
 इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर ।
 कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया ॥

ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल ।
 सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया ॥
 आपनी ही महिमामय परकाशमान ।
 रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया ॥८॥
 (दोहा)

अरे द्रव्य सामान्य का अबतक किया बखान ।
 अब तो द्रव्यविशेष का करते हैं व्याख्यान ॥९॥
 ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान के प्रतिपादक जो शब्द ।
 उनमें डुबकी लगाकर निज में रहें अशब्द ॥१०॥
 शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर जग को कर अब ज्ञेय ।
 स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही एकमात्र श्रद्धेय ॥११॥
 चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार ।
 शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार ॥१२॥
 द्रव्यसिद्धि से चरण अर चरण सिद्धि से द्रव्य ।
 यह लखकर सब आचरो द्रव्यों से अविरोद्ध ॥१३॥
 जो कहने के योग्य है कहा गया वह सब्ब ।
 इतने से ही चेत लो अति से क्या है अब्ब ॥१४॥

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा ।
 भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है ॥
 पुराणपुरुषों के द्वारा सादर हैं सेवित जो ।
 उन्हें प्राप्तकर संत हुए जो पवित्र हैं ॥
 चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप ।
 जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में ॥
 क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके ।
 सभी ओर से सदा वास करो निज में ॥१५॥

इसप्रकार जो प्रतिपादन के अनुसार।
 एक होकर भी अनेक रूप होता है ॥
 निश्चयनय से तो मात्र एकाग्रता ही।
 पर व्यवहार से तीनरूप होता है ॥
 ऐसे मोक्षमार्ग के अचलालम्बन से।
 ज्ञाता-दृष्टाभाव को निज में ही बाँध ले ॥
 उल्लसित चेतना का अतुल विलास लख।
 आत्मीकसुख प्राप्त करे अल्पकाल में ॥१६॥

इसप्रकार शुभ उपयोगमयी किंचित् ही।
 शुभरूप वृत्ति का सुसेवन करके ॥
 सम्यक्प्रकार से संयम के सौष्टव से।
 आप ही क्रमशर निरवृत्ति करके ॥
 अरे ज्ञानसूर्य का है अनुपम जो उदय।
 सब वस्तुओं को मात्र लीला में ही जानलो ॥
 ऐसी ज्ञानानन्दमयी दशा एकान्ततः।
 अपने में आपही नित अनुभव करो ॥१७॥

अब इस शास्त्र के मुकुटमणि के समान।
 पाँच सूत्र निरमल पंचरत्न गाये हैं ॥
 जो जिनदेव अरहंत भगवन्त के।
 अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशे हैं ॥
 अद्भुत पंचरत्न भिन्न-भिन्न पंथवाली।
 भव-अपवर्ग की व्यतिरेकी दशा को ॥
 तप्त-संतप्त इस जगत के सामने।
 प्रगटित करते हुये जयवंत वर्तो ॥१८॥

(दोहा)

स्याद्वादमय नयप्रमाण से दिखे न कुछ भी अन्य।
 अनंतधर्ममय आत्म में दिखे एक चैतन्य ॥१९॥

(हरिगीत)

आनन्द अमृतपूर से भरपूर जो बहती हुई।
 अरे केवलज्ञान रूपी नदी में डूबा हुआ ॥
 जो इष्ट है स्पष्ट है उल्लसित है निज आतमा।
 स्याद्चिह्नित जिनेन्द्र शासन से उसे पहिचान लो ॥२०॥

वाणिगुंफन व्याख्या व्याख्येय सारा जगत है।
 और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता कहे हैं ॥
 इसतरह कह मोह में मत नाचना हे भव्यजन!
 स्याद्विद्याबल से निज पा निराकुल होकर नचो ॥२१॥

चैतन्य का गुणगान तो उतना ही कम जितना करो।
 थोड़ा-बहुत जो कहा वह सब स्वयं स्वाहा हो गया ॥
 निज आतमा को छोड़कर इस जगत में कुछ अन्य ना।
 इक वही उत्तम तत्त्व है भवि उसी का अनुभव करो ॥२२॥

(दोहा)

क्रिसमस के दिन चतुर्दशी अगहन सुद शनिवार।
 पूर्ण हुआ यह विक्रमी इकसठ दौय हजार ॥

अष्टपाहुड पद्यानुवाद

दर्शनपाहुड

(हरिगीत)

कर नमन जिनवर वृषभ एवं वीर श्री वर्द्धमान को ।
 संक्षिप्त दिग्दर्शन यथाक्रम करूँ दर्शनमार्ग का ॥१॥
 सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
 हे कानवालो सुनो ! दर्शनहीन वंदन योग्य ना ॥२॥
 दृगभ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना ।
 हों सिद्ध चारित्रभ्रष्ट पर दृगभ्रष्ट को निर्वाण ना ॥३॥
 जो जानते हों शास्त्र सब पर भ्रष्ट हों सम्यक्त्व से ।
 घूमें सदा संसार में आराधना से रहित वे ॥४॥
 यद्यपि करें वे उग्रतप शत-सहस-कोटि वर्ष तक ।
 पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व विरहित साधु सब ॥५॥
 सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान बल अर वीर्य से वर्द्धमान जो ।
 वे शीघ्र ही सर्वज्ञ हों, कलिकलुसकल्मस रहित जो ॥६॥
 सम्यक्त्व की जलधार जिनके नित्य बहती हृदय में ।
 वे कर्मरज से ना बंधे पहले बंधे भी नष्ट हों ॥७॥
 जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।
 वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ॥८॥
 तप शील संयम व्रत नियम अर योग गुण से युक्त हों ।
 फिर भी उन्हें वे दोष दें जो स्वयं दर्शन भ्रष्ट हों ॥९॥
 जिस तरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।
 बस उस तरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना ॥१०॥

मूल ही है मूल ज्यों शाखादि द्रुम परिवार का ।
 बस उस तरह ही मुक्तिमग का मूल दर्शन को कहा ॥११॥
 चाहें नमन दृगवन्त से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।
 है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों ॥१२॥
 जो लाज गारव और भयवश पूजते दृगभ्रष्ट को ।
 की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो ॥१३॥
 त्रैयोग से हों संयमी निर्ग्रन्थ अन्तर-बाह्य से ।
 त्रिकरण शुध अर पाणिपात्री मुनीन्द्रजन दर्शन कहे ॥१४॥
 सम्यक्त्व से हो ज्ञान सम्यक् ज्ञान से सब जानना ।
 सब जानने से ज्ञान होता श्रेय अर अश्रेय का ॥१५॥
 श्रेयाश्रेय के परिज्ञान से दुःशील का परित्याग हो ।
 अर शील से हो अभ्युदय अर अन्त में निर्वाण हो ॥१६॥
 जिनवचन अमृत औषधी जरमरणव्याधि के हरण ।
 अर विषयसुख के विरेचक हैं सर्वदुःख के क्षयकरण ॥१७॥
 एक जिनवर लिंग है उत्कृष्ट श्रावक दूसरा ।
 अर कोई चौथा है नहीं, पर आर्यिका का तीसरा ॥१८॥
 छह द्रव्य नव तत्त्वार्थ जिनवर देव ने जैसे कहे ।
 है वही सम्यग्दृष्टि जो उस रूप में ही श्रद्धा है ॥१९॥
 जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है ।
 पर नियतनय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥२०॥
 जिनवरकथित सम्यक्त्व यह गुण रतनत्रय में सार है ।
 सद्भाव से धारण करो यह मोक्ष का सोपान है ॥२१॥
 जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
 श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ॥२२॥
 ज्ञान दर्शन चरण में जो नित्य ही संलग्न हैं ।
 गणधर करें गुण कथन जिनके वे मुनीजन वंद्य हैं ॥२३॥

सहज जिनवर लिंग लख ना नमें मत्सर भाव से ।
 बस प्रगट मिथ्यादृष्टि हैं संयम विरोधी जीव वे ॥२४॥
 अमर वंदित शील मण्डित रूप को भी देखकर ।
 ना नमें गारब करें जो सम्यक्त्व विरहित जीव वे ॥२५॥
 असंयमी ना वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी ।
 दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ॥२६॥
 ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की ।
 कोई करे क्यों वंदना गुणहीन श्रावक-साधु की ॥२७॥
 गुण शील तप सम्यक्त्व मंडित ब्रह्मचारी श्रमण जो ।
 शिवगमन तत्पर उन श्रमण को शुद्धमन से नमन हो ॥२८॥
 चौसठ चमर चौंतीस अतिशय सहित जो अरहंत हैं ।
 वे कर्मक्षय के हेतु सबके हितैषी भगवन्त हैं ॥२९॥
 ज्ञान-दर्शन-चरण तप इन चार के संयोग से ।
 हो संयमित जीवन तभी हो मुक्ति जिनशासन विषैं ॥३०॥
 ज्ञान ही है सार नर का और समकित सार है ।
 सम्यक्त्व से हो चरण अर चारित्र से निर्वाण है ॥३१॥
 सम्यक्पने परिणमित दर्शन ज्ञान तप अर आचरण ।
 इन चार के संयोग से हो सिद्ध पद सन्देह ना ॥३२॥
 समकित रतन है पूज्यतम सब ही सुरासुर लोक में ।
 क्योंकि समकित शुद्ध से कल्याण होता जीव का ॥३३॥
 प्राप्तकर नरदेह उत्तम कुल सहित यह आतमा ।
 सम्यक्त्व लह मुक्ति लहे अर अखय आनन्द परिणमे ॥३४॥
 हजार अठ लक्षण सहित चौंतीस अतिशय युक्त जिन ।
 विहरें जगत में लोकहित प्रतिमा उसे थावर कहें ॥३५॥
 द्वादश तपों से युक्त क्षयकर कर्म को विधिपूर्वक ।
 तज देह जो व्युत्सर्ग युत, निर्वाण पावें वे श्रमण ॥३६॥

सूत्रपाहुड

अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
 परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ॥१॥
 जो भव्य हैं वे सूत्र में उपदिष्ट शिवमग जानकर ।
 जिनपरम्परा से समागत शिवमार्ग में वर्तन करें ॥२॥
 डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन-भवन ।
 संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥३॥
 संसार में गत गृहीजन भी सूत्र के ज्ञायक पुरुष ।
 निज आतमा के अनुभवन से भवोदधि से पार हों ॥४॥
 जिनसूत्र में जीवादि बहुविध द्रव्य तत्त्वारथ कहे ।
 हैं हेय पर व अहेय निज जो जानते सदृष्टि वे ॥५॥
 परमार्थ या व्यवहार जो जिनसूत्र में जिनवर कहे ।
 सब जान योगी सुख लहें मलपुंज का क्षेपण करें ॥६॥
 सूत्रार्थ से जो नष्ट हैं वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं ।
 तुम खेल में भी नहीं धरना यह सचेलक वृत्तियाँ ॥७॥
 सूत्र से हों भ्रष्ट जो वे हरीहर सम क्यों न हों ।
 स्वर्गस्थ हों पर कोटि भव अटकत फिरें ना मुक्त हों ॥८॥
 सिंह सम उत्कृष्ट चर्या हो तपी गुरु भार हो ।
 पर हो यदी स्वच्छन्द तो मिथ्यात्व है अर पाप हो ॥९॥
 निश्चेल एवं पाणिपात्री जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
 बस एक है यह मोक्षमारग शेष सब उन्मार्ग हैं ॥१०॥
 संयम सहित हों जो श्रमण हों विरत परिग्रहारंभ से ।
 वे वन्द्य हैं सब देव-दानव और मानुष लोक से ॥११॥
 निजशक्ति से सम्पन्न जो बाइस परीषह को सहें ।
 अर कर्म क्षय वा निर्जरा सम्पन्न मुनिजन वंद्य हैं ॥१२॥

अवशेष लिंगी वे गृही जो ज्ञान दर्शन युक्त हैं।
 शुभ वस्त्र से संयुक्त इच्छाकार के वे योग्य हैं ॥१३॥
 मर्मज्ञ इच्छाकार के अर शास्त्र सम्मत आचरण।
 सम्यक् सहित दुष्कर्म त्यागी सुख लहें परलोक में ॥१४॥
 जो चाहता नहीं आतमा वह आचरण कुछ भी करे।
 पर सिद्धि को पाता नहीं संसार में भ्रमता रहे ॥१५॥
 बस इसलिए मन वचन तन से आत्म की आराधना।
 तुम करो जानो यत्न से मिल जाय शिवसुख साधना ॥१६॥
 बालाग्र के भी बराबर ना परीग्रह हो साधु के।
 अर अन्य द्वारा दत्त पाणीपात्र में भोजन करें ॥१७॥
 जन्मते शिशुवत् अकिंचन नहीं तिल-तुष हाथ में।
 किंचित् परीग्रह साथ हो तो श्रमण जाँयें निगोद में ॥१८॥
 थोड़ा-बहुत भी परिग्रह हो जिस श्रमण के पास में।
 वह निन्द्य है निर्ग्रन्थ होते जिनश्रमण आचार में ॥१९॥
 महाव्रत हों पाँच गुप्ती तीन से संयुक्त हों।
 निरग्रन्थ मुक्ती पथिक वे ही वंदना के योग्य हैं ॥२०॥
 जिनमार्ग में उत्कृष्ट श्रावक लिंग होता दूसरा।
 भिक्षा ग्रहण कर पात्र में जो मौन से भोजन करे ॥२१॥
 अर नारियों का लिंग तीजा एक पट धारण करें।
 वह नग्न ना हो दिवस में इकबार ही भोजन करें ॥२२॥
 सिद्ध ना हो वस्त्रधर वह तीर्थकर भी क्यों न हो।
 बस नग्नता ही मार्ग है अर शेष सब उन्मार्ग हैं ॥२३॥
 नारियों की योनि नाभी काँख अर स्तनों में।
 जिन कहे हैं बहु जीव सूक्ष्म इसलिए दीक्षा न हो ॥२४॥
 पर यदी वह सदृष्टि हो संयुक्त हो जिनमार्ग में।
 सद्आचरण से युक्त तो वह भी नहीं है पापमय ॥२५॥

चित्तशुद्धी नहीं एवं शिथिलभाव स्वभाव से।
 मासिकधरम से चित्त शंकित रहे वंचित ध्यान से ॥२६॥
 जलनिधि से पटशुद्धिवत जो अल्पग्राही साधु हैं।
 हैं सर्व दुख से मुक्त वे इच्छा रहित जो साधु हैं ॥२७॥

-●-

चारित्रपाहुड

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अमोही अरिहंत जिन।
 त्रैलोक्य से हैं पूज्य जो उनके चरण में कर नमन ॥१॥
 ज्ञान-दर्शन-चरण सम्यक् शुद्ध करने के लिए।
 चारित्रपाहुड कहूँ मैं शिवसाधना का हेतु जो ॥२॥
 जो जानता वह ज्ञान है जो देखता दर्शन कहा।
 समयोग दर्शन-ज्ञान का चारित्र जिनवर ने कहा ॥३॥
 तीन ही ये भाव जिय के अख्य और अमेय हैं।
 इन तीन के सुविकास को चारित्र दो विध जिन कहा ॥४॥
 है प्रथम सम्यक्त्वाचरण जिन ज्ञानदर्शन शुद्ध है।
 है दूसरा संयमचरण जिनवर कथित परिशुद्ध है ॥५॥
 सम्यक्त्व के जो दोष मल शंकादि जिनवर ने कहे।
 मन-वचन-तन से त्याग कर सम्यक्त्व निर्मल कीजिए ॥६॥
 निशंक और निकांक्ष अर निर्गलान दृष्टि-अमूढ़ है।
 उपगूहन अर थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ॥७॥
 इन आठ गुण से शुद्ध सम्यक् मूलतः शिवथान है।
 सद्ज्ञानयुत आचरण यह सम्यक्चरण चारित्र है ॥८॥
 सम्यक्चरण से शुद्ध अर संयमचरण से शुद्ध हों।
 वे समकित्ती सद्ज्ञानिजन निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥९॥
 सम्यक्चरण से भ्रष्ट पर संयमचरण आचरें जो।
 अज्ञान मोहित मती वे निर्वाण को पाते नहीं ॥१०॥

विनयवत्सल दयादानरु मार्ग का बहुमान हो।
 संवेग हो हो उपागूहन स्थितिकरण का भाव हो ॥११॥
 अर सहज आर्जव भाव से ये सभी लक्षण प्रगट हों।
 तो जीव वह निर्मोह मन से करे सम्यक् साधना ॥१२॥
 अज्ञानमोहित मार्ग की शंसा करे उत्साह से।
 श्रद्धा कुदर्शन में रहे तो बमे सम्यक्भाव को ॥१३॥
 सदज्ञान सम्यक्भाव की शंसा करे उत्साह से।
 श्रद्धा सुदर्शन में रहे ना बमे सम्यक्भाव को ॥१४॥
 तज मूढ़ता अज्ञान हे जिय ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर।
 मद मोह हिंसा त्याग दे जिय अहिंसा को साधकर ॥१५॥
 सब संग तज ग्रह प्रव्रज्या रम सुतप संयमभाव में।
 निर्मोह हो तू वीतरागी लीन हो शुधध्यान में ॥१६॥
 मोहमोहित मलिन मिथ्यामार्ग में ये भूल जिय।
 अज्ञान अर मिथ्यात्व कारण बंधनों को प्राप्त हो ॥१७॥
 सदज्ञानदर्शन जानें देखें द्रव्य अर पर्यायों को।
 सम्यक् करे श्रद्धान अर जिय तजे चरणज दोष को ॥१८॥
 सदज्ञानदर्शनचरण होते हैं अमोही जीव को।
 अर स्वयं की आराधना से हरे बन्धन शीघ्र वे ॥१९॥
 सम्यक्त्व के अनुचरण से दुख क्षय करें सब धीरजन।
 अर करें वे जिय संख्य और असंख्य गुणमय निर्जरा ॥२०॥
 सागार अर अनगार से यह द्विविध है संयमचरण।
 सागार हों सग्रन्थ अर निर्ग्रन्थ हों अणगार सब ॥२१॥
 देशव्रत सामायिक प्रोषध सचित निशिभुज त्यागमय।
 ब्रह्मचर्य आरम्भ ग्रन्थ तज अनुमति अर उद्देश्य तज ॥२२॥
 पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत कहे।
 यह गृहस्थ का संयमचरण इस भांति सब जिनवर कहे ॥२३॥

त्रसकायवध अर मृषा चोरी तजे जो स्थूल ही।
 परनारि का हो त्याग अर परिमाण परिग्रह का करे ॥२४॥
 दिशि-विदिश का परिमाण दिग्रत अर अनर्थकदण्डव्रत।
 परिमाण भोगोपभोग का ये तीन गुणव्रत जिन कहे ॥२५॥
 सामायिका प्रोषध तथा व्रत अतिथिसंविभाग है।
 सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे जिनदेव ने ॥२६॥
 इस तरह संयमचरण श्रावक का कहा जो सकल है।
 अनगार का अब कहूँ संयमचरण जो कि निकल है ॥२७॥
 संवरण पंचेन्द्रियों का अर पंचव्रत पचिस क्रिया।
 त्रय गुप्ति समिति पंच संयमचरण है अनगार का ॥२८॥
 सजीव हो या अजीव हो अमनोज्ञ हो या मनोज्ञ हो।
 ना करे उनमें राग-रुस पंच इन्द्रियाँ, संवर कहा ॥२९॥
 हिंसा असत्य अदत्त अब्रह्मचर्य और परिग्रहा।
 इनसे विरति सम्पूर्णतः ही पंच मुनिमहाव्रत कहे ॥३०॥
 ये महाव्रत निष्पाप हैं अर स्वयं से ही महान हैं।
 पूर्व में साधे महाजन आज भी हैं साधते ॥३१॥
 मनो गुप्ती वचन गुप्ती समिति ईर्या ऐषणा।
 आदाननिक्षेपण समिति ये हैं अहिंसा भावना ॥३२॥
 सत्यव्रत की भावनायें क्रोध लोभरु मोह भय।
 अर हास्य से है रहित होना ज्ञानमय आनन्दमय ॥३३॥
 हो विमोचितवास शून्यागार हो उपरोध बिन।
 हो एषणाशुद्धी तथा संवाद हो विसंवाद बिन ॥३४॥
 त्याग हो आहार पौष्टिक आवास महिलावासमय।
 भोगस्मरण महिलावलोकन त्याग हो विकथा कथन ॥३५॥
 इन्द्रियों के विषय चाहे मनोज्ञ हों अमनोज्ञ हों।
 नहीं करना राग-रुस ये अपरिग्रह व्रत भावना ॥३६॥

ईर्ष्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण सही ।
 एवं प्रतिष्ठापना संयमशोधमय समिती कही ॥३७॥
 सब भव्यजन संबोधने जिननाथ ने जिनमार्ग में ।
 जैसा बताया आतमा हे भव्य ! तुम जानो उसे ॥३८॥
 जीव और अजीव का जो भेद जाने ज्ञानि वह ।
 रागादि से हो रहित शिवमग यही है जिनमार्ग में ॥३९॥
 तू जान श्रद्धाभाव से उन चरण-दर्शन-ज्ञान को ।
 अतिशीघ्र पाते मुक्ति योगी अरे जिनको जानकर ॥४०॥
 ज्ञानजल में नहा निर्मल शुद्ध परिणति युक्त हो ।
 त्रैलोक्यचूड़ामणि बने एवं शिवालय वास हो ॥४१॥
 ज्ञानगुण से हीन इच्छितलाभ को ना प्राप्त हों ।
 यह जान जानो ज्ञान को गुणदोष को पहिचानने ॥४२॥
 पर को न चाहें ज्ञानिजन चारित्र में आरूढ़ हो ।
 अनूपम सुख शीघ्र पावें जान लो परमार्थ से ॥४३॥
 इसतरह संक्षेप में सम्यक्चरण संयमचरण ।
 का कथन कर जिनदेव ने उपकृत किये हैं भव्यजन ॥४४॥
 स्फुट रचित यह चरित पाहुड़ पढ़ो पावन भाव से ।
 तुम चतुर्गति को पारकर अपुनर्भव हो जाओगे ॥४५॥

-●-

बोधपाहुड़

शास्त्रज्ञ हैं सम्यक्त्व संयम शुद्धतप संयुक्त हैं ।
 कर नमन उन आचार्य को जो कषायों से रहित हैं ॥१॥
 अर सकलजन संबोधने जिनदेव ने जिनमार्ग में ।
 छहकाय सुखकर जो कहा वह मैं कहूँ संक्षेप में ॥२॥
 ये आयतन अर चैत्यगृह अर शुद्ध जिनप्रतिमा कही ।
 दर्शन तथा जिनबिम्ब जिनमुद्रा विरागी ज्ञान ही ॥३॥

हैं देव तीरथ और अर्हन् गुणविशुद्धा प्रव्रज्या ।
 अरिहंत ने जैसे कहे वैसे कहूँ मैं यथाक्रम ॥४॥
 आधीन जिनके मन-वचन-तन इन्द्रियों के विषय सब ।
 कहे हैं जिनमार्ग में वे संयमी ऋषि आयतन ॥५॥
 हो गये हैं नष्ट जिनके मोह राग-द्वेष मद ।
 जिनवर कहें वे महाव्रतधारी ऋषि ही आयतन ॥६॥
 जो शुक्लध्यानी और केवलज्ञान से संयुक्त हैं ।
 अर जिन्हें आतम सिद्ध है वे मुनिवृषभ सिद्धायतन ॥७॥
 जानते मैं ज्ञानमय परजीव भी चैतन्यमय ।
 सद्ज्ञानमय वे महाव्रतधारी मुनी ही चैत्यगृह ॥८॥
 मुक्ति-बंधन और सुख-दुःख जानते जो चैत्य वे ।
 बस इसलिए षट्काय हितकर मुनी ही हैं चैत्यगृह ॥९॥
 सद्ज्ञानदर्शनचरण से निर्मल तथा निर्ग्रन्थ मुनि ।
 की देह ही जिनमार्ग में प्रतिमा कही जिनदेव ने ॥१०॥
 जो देखे जाने रमे निज में ज्ञानदर्शन चरण से ।
 उन ऋषीगण की देह प्रतिमा वंदना के योग्य है ॥११॥
 अनंतदर्शन-ज्ञान-सुख अर वीर्य से संयुक्त हैं ।
 हैं सदासुखमय देहबिन कर्माष्टकों से युक्त हैं ॥१२॥
 अनुपम अचल अक्षोभ हैं लोकाग्र में थिर सिद्ध हैं ।
 जिनवर कथित व्युत्सर्ग प्रतिमा तो यही ध्रुव सिद्ध है ॥१३॥
 सम्यक्त्व संयम धर्ममय शिवमग बतावनहार जो ।
 वे ज्ञानमय निर्ग्रन्थ ही दर्शन कहे जिनमार्ग में ॥१४॥
 दूध घृतमय लोक में अर पुष्प हैं ज्यों गंधमय ।
 मुनिलिंगमय यह जैनदर्शन त्योंहि सम्यक् ज्ञानमय ॥१५॥
 जो कर्मक्षय के लिए दीक्षा और शिक्षा दे रहे ।
 वे वीतरागी ज्ञानमय आचार्य ही जिनबिंब हैं ॥१६॥

सद्ज्ञानदर्शन चेतनामय भावमय आचार्य को ।
 अतिविनय वत्सलभाव से वंदन करो पूजन करो ॥१७॥
 व्रततप गुणों से शुद्ध सम्यक्भाव से पहिचानते ।
 दें दीक्षा शिक्षा यही मुद्रा कही है अरिहंत की ॥१८॥
 निज आतमा के अनुभवी इन्द्रियजयी दृढ़ संयमी ।
 जीती कषायें जिन्होंने वे मुनी जिनमुद्रा कही ॥१९॥
 संयमसहित निजध्यानमय शिवमार्ग ही प्राप्तव्य है ।
 सद्ज्ञान से हो प्राप्त इससे ज्ञान ही ज्ञातव्य है ॥२०॥
 है असंभव लक्ष्यविधना बाणबिन अभ्यासबिन ।
 मुक्तिमग पाना असंभव ज्ञानबिन अभ्यासबिन ॥२१॥
 मुक्तिमग का लक्ष्य तो बस ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
 इसलिए सविनय करें जन-जन ज्ञान की आराधना ॥२२॥
 मति धनुष श्रुतज्ञान डोरी रत्नत्रय के बाण हों ।
 परमार्थ का हो लक्ष्य तो मुनि मुक्तिमग नहीं चूकते ॥२३॥
 धर्मार्थ कामरु ज्ञान देवे देव जन उसको कहें ।
 जो हो वही दे नीति यह धर्मार्थ कारण प्रव्रज्या ॥२४॥
 सब संग का परित्याग दीक्षा दयामय सद्धर्म हो ।
 अर भव्यजन के उदय कारक मोह विरहित देव हों ॥२५॥
 सम्यक्त्वव्रत से शुद्ध संवर सहित अर इन्द्रियजयी ।
 निरपेक्ष आतमतीर्थ में स्नान कर परिशुद्ध हों ॥२६॥
 यदि शान्त हों परिणाम निर्मलभाव हों जिनमार्ग में ।
 तो जान लो सम्यक्त्व संयम ज्ञान तप ही तीर्थ है ॥२७॥
 नाम थापन द्रव्य भावों और गुणपर्यायों से ।
 च्यवन आगति संपदा से जानिये अरिहंत को ॥२८॥
 अनंत दर्शन ज्ञानयुत आरूढ़ अनुपम गुणों में ।
 कर्माष्ट्र बंधन मुक्त जो वे ही अरे अरिहंत हैं ॥२९॥

जन्ममरणजरा चतुर्गतिगमन पापरु पुण्य सब ।
 दोषोत्पादक कर्म नाशक ज्ञानमय अरिहंत हैं ॥३०॥
 गुणथान मार्गणथान जीवस्थान अर पर्याप्ति से ।
 और प्राणों से करो अरहंत की स्थापना ॥३१॥
 आठ प्रातिहार्य अरु चौंतीस अतिशय युक्त हों ।
 सयोगकेवलि तेरवें गुणस्थान में अरहंत हों ॥३२॥
 गति इन्द्रिय कायरु योग वेद कसाय ज्ञानरु संयमा ।
 दर्शलेश्या भव्य सम्यक् संज्ञिना आहार हैं ॥३३॥
 आहार तन मन इन्द्रि श्वासोच्छ्वास भाषा छहों इन ।
 पर्याप्तियों से सहित उत्तम देव ही अरहंत हैं ॥३४॥
 पंचेन्द्रियों मन-वचन-तन बल और श्वासोच्छ्वास भी ।
 अर आयु - इन दश प्राणों में अरिहंत की स्थापना ॥३५॥
 सैनी पंचेन्द्रियों नाम के इस चतुर्दश जीवस्थान में ।
 अरहंत होते हैं सदा गुणसहित मानवलोक में ॥३६॥
 व्याधी बुढ़ापा श्वेद मल आहार अर नीहार से ।
 थूक से दुर्गन्ध से मल-मूत्र से वे रहित हैं ॥३७॥
 अठ सहस लक्षण सहित हैं अर रक्त है गोक्षीर सम ।
 दश प्राण पर्याप्ती सहित सर्वांग सुन्दर देह है ॥३८॥
 इसतरह अतिशयवान निर्मल गुणों से संयुक्त हैं ।
 अर परम औदारिक श्री अरिहंत की नरदेह है ॥३९॥
 राग-द्वेष विकार वर्जित विकल्पों से पार हैं ।
 कषायमल से रहित केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥४०॥
 सद्दृष्टि से सम्पन्न अर सब द्रव्य-गुण-पर्याय को ।
 जो देखते अर जानते जिननाथ वे अरिहंत हैं ॥४१॥
 शून्यघर तरुमूल वन उद्यान और मसान में ।
 वसतिका में रहें या गिरिशिखर पर गिरिगुफा में ॥४२॥

चैत्य आलय तीर्थ वच स्ववशासक्तस्थान में।
 जिनभवन में मुनिवर रहें जिनवर कहें जिनमार्ग में ॥४३॥
 इन्द्रियजयी महाव्रतधनी निरपेक्ष सारे लोक से।
 निजध्यानरत स्वाध्यायरत मुनिश्रेष्ठ ना इच्छा करें ॥४४॥
 परिषहजयी जितकषायी निर्ग्रन्थ है निर्मोह है।
 है मुक्त पापारंभ से ऐसी प्रव्रज्या जिन कही ॥४५॥
 धन-धान्य पट अर रजत-सोना आसनादिक वस्तु के।
 भूमि चंवर-छत्रादि दानों से रहित हो प्रव्रज्या ॥४६॥
 जिनवर कही है प्रव्रज्या समभाव लाभालाभ में।
 अर कांच-कंचन मित्र-अरि निन्दा-प्रशंसा भाव में ॥४७॥
 प्रव्रज्या जिनवर कही सम्पन्न हों असंपन्न हों।
 उत्तम मध्यम घरों में आहार लें समभाव से ॥४८॥
 निर्ग्रन्थ है निःसंग है निर्मान है नीराग है।
 निर्दोष है निरआश है जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥४९॥
 निर्लोभ है निर्मोह है निष्कलुष है निर्विकार है।
 निस्नेह निर्मल निराशा जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५०॥
 शान्त है है निरायुध नग्नत्व अवलम्बित भुजा।
 आवास परकृत निलय में जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५१॥
 उपशम क्षमा दम युक्त है शृंगारवर्जित रूक्ष है।
 मदरागरुस से रहित है जिनप्रव्रज्या ऐसी कही ॥५२॥
 मूढ़ता विपरीतता मिथ्यापने से रहित है।
 सम्यक्त्व गुण से शुद्ध है जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५३॥
 जिनमार्ग में यह प्रव्रज्या निर्ग्रन्थता से युक्त है।
 भव्य भावे भावना यह कर्मक्षय कारण कही ॥५४॥
 जिसमें परिग्रह नहीं अन्तर्बाह्य तिलतुषमात्र भी।
 सर्वज्ञ के जिनमार्ग में जिनप्रव्रज्या ऐसी कही ॥५५॥

परिषह सहें उपसर्ग जीतें रहें निर्जन देश में।
 शिला पर या भूमितल पर रहें वे सर्वत्र ही ॥५६॥
 पशु-नपुंसक-महिला तथा कुस्शीलजन की संगति।
 ना करें विकथा ना करें रत रहें अध्ययन-ध्यान में ॥५७॥
 सम्यक्त्व संयम तथा व्रत-तप गुणों से सुविशुद्ध हो।
 शुद्ध हो सद्गुणों से जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५८॥
 आयतन से प्रव्रज्या तक यह कथन संक्षेप में।
 सुविशुद्ध समकित सहित दीक्षा यों कही जिनमार्ग में ॥५९॥
 षट्काय हितकर जिसतरह ये कहे हैं जिनदेव ने।
 बस उसतरह ही कहे हमने भव्यजन संबोधने ॥६०॥
 जिनवरकथित शब्दत्वपरिणत समागत जो अर्थ है।
 बस उसे ही प्रस्तुत किया भद्रबाहु के इस शिष्य ने ॥६१॥
 अंग बारह पूर्व चउदश के विपुल विस्तार विद।
 श्री भद्रबाहु गमकगुरु जयवंत हो इस जगत में ॥६२॥

-•-

भावपाहुड़

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र वंदित सिद्ध जिनवरदेव अर।
 सब संयतों को नमन कर इस भावपाहुड़ को कहूँ ॥१॥
 बस भाव ही गुण-दोष के कारण कहे जिनदेव ने।
 भावलिंग ही परधान हैं द्रव्यलिंग न परमार्थ है ॥२॥
 अर भावशुद्धि के लिए बस परीग्रह का त्याग हो।
 रागादि अन्तर में रहें तो विफल समझो त्याग सब ॥३॥
 वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें।
 पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥४॥
 परिणामशुद्धि के बिना यदि परीग्रह सब छोड़ दें।
 तब भी अरे निज आत्महित का लाभ कुछ होगा नहीं ॥५॥

प्रथम जानो भाव को तुम भाव बिन द्रवलिंग से ।
 तो लाभ कुछ होता नहीं पथ प्राप्त हो पुरुषार्थ से ॥६॥
 भाव बिन द्रवलिंग अगणित धरे काल अनादि से ।
 पर आजतक हे आत्मन् ! सुख रंच भी पाया नहीं ॥७॥
 भीषण नरक तिर्यच नर अर देवगति में भ्रमण कर ।
 पाये अनन्ते दुःख अब भावो जिनेश्वर भावना ॥८॥
 इन सात नरकों में सतत चिरकाल तक हे आत्मन् ।
 दारुण भयंकर अर असह्य महान दुःख तूने सहे ॥९॥
 तिर्यचगति में खनन उत्तापन जलन अर छेदना ।
 रोकना वध और बंधन आदि दुख तूने सहे ॥१०॥
 मानसिक देहिक सहज एवं अचानक आ पड़े ।
 ये चतुर्विध दुख मनुजगति में आत्मन् तूने सहे ॥११॥
 हे महायश सुरलोक में परसंपदा लखकर जला ।
 देवांगना के विरह में विरहाग्नि में जलता रहा ॥१२॥
 पंचविध कांदर्पि आदि भावना भा अशुभतम ।
 मुनि द्रव्यलिंगीदेव हों किल्बिषिक आदिक अशुभतम ॥१३॥
 पार्श्वस्थ आदि कुभावनायें भवदुःखों की बीज जो ।
 भाकर उन्हें दुख विविध पाये विविध वार अनादि से ॥१४॥
 निज हीनता अर विभूति गुण-ऋद्धि महिमा अन्य की ।
 लख मानसिक संताप हो है यह अवस्था देव की ॥१५॥
 चतुर्विध विकथा कथा आसक्त अर मदमत्त हो ।
 यह आतमा बहुबार हीन कुदेवपन को प्राप्त हो ॥१६॥
 फिर अशुचितम वीभत्स जननी गर्भ में चिरकाल तक ।
 दुख सहे तूने आजतक अज्ञानवश हे मुनिप्रवर ॥१७॥
 अरे तू नरलोक में अगणित जनम धर-धर जिया ।
 हो उदधि जल से भी अधिक जो दूध जननी का पिया ॥१८॥

तेरे मरण से दुखित जननी नयन से जो जल बहा ।
 वह उदधिजल से भी अधिक यह वचन जिनवर ने कहा ॥१९॥
 ऐसे अनन्ते भव धरे नरदेह के नख-केश सब ।
 यदि करे कोई इकट्ठे तो ढेर होवे मेरु सम ॥२०॥
 परवश हुआ यह रह रहा चिरकाल से आकाश में ।
 थल अनल जल तरु अनिल उपवन गहन वन गिरिगुफा में ॥२१॥
 पुद्गल सभी भक्षण किये उपलब्ध हैं जो लोक में ।
 बहु बार भक्षण किये पर तृप्ति मिली न रंच भी ॥२२॥
 त्रैलोक्य में उपलब्ध जल सब तृषित हो तूने पिया ।
 पर प्यास फिर भी ना बुझी अब आत्मचिंतन में लगो ॥२३॥
 जिस देह में तू रम रहा ऐसी अनन्ती देह तो ।
 मूर्ख अनेकों बार तूने प्राप्त करके छोड़ दी ॥२४॥
 शस्त्र श्वासनिरोध एवं रक्तक्षय संक्लेश से ।
 अर जहर से भय वेदना से आयुक्षय हो मरण हो ॥२५॥
 अनिल जल से शीत से पर्वतपतन से वृक्ष से ।
 परधनहरण परगमन से कुमरण अनेक प्रकार हो ॥२६॥
 हे मित्र ! इस विधि नरगति में और गति तिर्यच में ।
 बहुविध अनन्ते दुःख भोगे भयंकर अपमृत्यु के ॥२७॥
 इस जीव ने नीगोद में अन्तरमुहूरत काल में ।
 छयासठ सहस्र अर तीन सौ छत्तीस भव धारण किये ॥२८॥
 विकलत्रयों के असी एवं साठ अर चालीस भव ।
 चौबीस भव पंचेन्द्रियों अन्तरमुहूरत छुद्रभव ॥२९॥
 रतन त्रय के बिना होता रहा है यह परिणमन ।
 तुम रतन त्रय धारण करो बस यही है जिनवर कथन ॥३०॥
 निज आतमा को जानना सदज्ञान रमना चरण है ।
 निज आतमारत जीव सम्यग्दृष्टि जिनवर कथन है ॥३१॥

तूने अनन्ते जनम में कुमरण किये हे आत्मन् ।
 अब तो समाधिमरण की भा भावना भवनाशनी ॥३२॥
 धरकर दिगम्बर वेष बारम्बार इस त्रैलोक में ।
 स्थान कोई शेष ना जन्मा-मरा ना हो जहाँ ॥३३॥
 रे भावलिंग बिना जगत में अरे काल अनंत से ।
 हा ! जन्म और जरा-मरण के दुःख भोगे जीव ने ॥३४॥
 परिणाम पुद्गल आयु एवं समय काल प्रदेश में ।
 तनरूप पुद्गल ग्रहे-त्यागे जीव ने इस लोक में ॥३५॥
 बिन आठ मध्यप्रदेश राजू तीन सौ चालीस त्रय ।
 परिमाण के इस लोक में जन्मा-मरा न हो जहाँ ॥३६॥
 एक-एक अंगुलि में जहाँ पर छ्यानवें हों व्याधियाँ ।
 तब पूर्ण तन में तुम बताओ होंगी कितनी व्याधियाँ ॥३७॥
 पूर्वभव में सहे परवश रोग विविध प्रकार के ।
 अर सहोगे बहु भाँति अब इससे अधिक हम क्या कहें? ॥३८॥
 कृमिकलित मज्जा-मांस-मज्जित मलिन महिला उदर में ।
 नवमास तक कई बार आतम तू रहा है आजतक ॥३९॥
 तू रहा जननी उदर में जो जननि ने खाया-पिया ।
 उच्छिष्ट उस आहार को ही तू वहाँ खाता रहा ॥४०॥
 शिशुकाल में अज्ञान से मल-मूत्र में सोता रहा ।
 अब अधिक क्या बोलें अरे मल-मूत्र ही खाता रहा ॥४१॥
 यह देह तो बस हड्डियों श्रोणित बसा अर माँस का ।
 है पिण्ड इसमें तो सदा मल-मूत्र का आवास है ॥४२॥
 परिवारमुक्ती मुक्ति ना मुक्ती वही जो भाव से ।
 यह जानकर हे आत्मन् ! तू छोड़ अन्तरवासना ॥४३॥
 बाहुबली ने मान बस घरवार ही सब छोड़कर ।
 तप तपा बारह मास तक ना प्राप्ति केवलज्ञान की ॥४४॥

तज भोजनादि प्रवृत्तियाँ मुनिपिंगला रे भावविन ।
 अरे मात्र निदान से पाया नहीं श्रमणत्व को ॥४५॥
 इस ही तरह मुनि वशिष्ठ भी इस लोक में थानक नहीं ।
 रे एक मात्र निदान से घूमा नहीं हो वह जहाँ ॥४६॥
 चौरासिलख योनीविषे है नहीं कोई थल जहाँ ।
 रे भावबिन द्रवलिंगधर घूमा नहीं हो तू जहाँ ॥४७॥
 भाव से ही लिंगी हो द्रवलिंग से लिंगी नहीं ।
 लिंगभाव ही धारण करो द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥४८॥
 जिनलिंग धरकर बाहुमुनि निज अंतरंग कषाय से ।
 दण्डकनगर को भस्मकर रौरव नरक में जा पड़े ॥४९॥
 इस ही तरह द्रवलिंगी द्वीपायन मुनी भी भ्रष्ट हो ।
 दुर्गति गमनकर दुख सहे अर अनंत संसारी हुए ॥५०॥
 शुद्धबुद्धी भावलिंगी अंगनाओं से घिरे ।
 होकर भी शिवकुमार मुनि संसारसागर तिर गये ॥५१॥
 अभविसेन ने केवलि प्ररूपित अंग ग्यारह भी पड़े ।
 पर भावलिंग बिना अरे संसारसागर न तरे ॥५२॥
 कहँतक बतावें अरे महिमा तुम्हें भावविशद्धि की ।
 तुषमास पद को घोखते शिवभूति केवलि हो गये ॥५३॥
 भाव से हो नग्न तन से नग्नता किस काम की ।
 भाव एवं द्रव्य से हो नाश कर्मकलंक का ॥५४॥
 भाव विरहित नग्नता कुछ कार्यकारी है नहीं ।
 यह जानकर भाओ निरन्तर आतमा की भावना ॥५५॥
 देहादि के संग से रहित अर रहित मान कषाय से ।
 अर आतमारत सदा ही जो भावलिंगी श्रमण वह ॥५६॥
 निज आत्म का अवलम्ब ले मैं और सबको छोड़ दूँ ।
 अर छोड़ ममताभाव को निर्ममत्व को धारण करूँ ॥५७॥

निज ज्ञान में है आतमा दर्शन चरण में आतमा ।
 और संवर योग प्रत्याख्यान में है आतमा ॥५८॥
 अरे मेरा एक शाश्वत आतमा दृग्ज्ञानमय ।
 अवशेष जो हैं भाव वे संयोगलक्षण जानने ॥५९॥
 चतुर्गति से मुक्त हो यदि शाश्वत सुख चाहते ।
 तो सदा निर्मलभाव से ध्याओ श्रमण शुद्धातमा ॥६०॥
 जो जीव जीवस्वभाव को सुधभाव से संयुक्त हो ।
 भावे सदा वह जीव ही पावे अमर निर्वाण को ॥६१॥
 चेतना से सहित ज्ञानस्वभावमय यह आतमा ।
 कर्मक्षय का हेतु यह है यह कहें परमातमा ॥६२॥
 जो जीव के सद्भाव को स्वीकारते वे जीव ही ।
 निर्देह निर्वच और निर्मल सिद्धपद को पावते ॥६३॥
 चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
 जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥६४॥
 अज्ञान नाशक पंचविध जो ज्ञान उसकी भावना ।
 भा भाव से हे आत्मन् ! तो स्वर्ग-शिवसुख प्राप्त हो ॥६५॥
 श्रमण श्रावकपने का है मूल कारण भाव ही ।
 क्योंकि पठन अर श्रवण से भी कुछ नहीं हो भावबिन ॥६६॥
 द्रव्य से तो नग्न सब नर नारकी तिर्यच हैं ।
 पर भावशुद्धि के बिना श्रमणत्व को पाते नहीं ॥६७॥
 हों नग्न पर दुख सहें अर संसारसागर में रुलें ।
 जिन भावना बिन नग्नतन भी बोधि को पाते नहीं ॥६८॥
 मान मत्सर हास्य ईर्ष्या पापमय परिणाम हों ।
 तो हे श्रमण तननगन होने से तुझे क्या साध्य है ॥६९॥
 हे आत्मन् जिनलिंगधर तू भावशुद्धी पूर्वक ।
 भावशुद्धि के बिना जिनलिंग भी हो निरर्थक ॥७०॥

सद्धर्म का न वास जहँ तहँ दोष का आवास है ।
 है निरर्थक निष्फल सभी सद्ज्ञान बिन हे नटश्रमण ॥७१॥
 जिनभावना से रहित रागी संग से संयुक्त जो ।
 निर्ग्रन्थ हों पर बोधि और समाधि को पाते नहीं ॥७२॥
 मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।
 आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥७३॥
 हो भाव से अपवर्ग एवं भाव से ही स्वर्ग हो ।
 पर मलिनमन अर भाव विरहित श्रमण तो तिर्यच हो ॥७४॥
 सुभाव से ही प्राप्त करते बोधि अर चक्रेश पद ।
 नर अमर विद्याधर नमें जिनको सदा कर जोड़कर ॥७५॥
 शुभ अशुभ एवं शुद्ध इसविधि भाव तीन प्रकार के ।
 रौद्रार्त तो हैं अशुभ किन्तु शुभ धरममय ध्यान है ॥७६॥
 निज आत्मा का आत्मा में रमण शुद्धस्वभाव है ।
 जो श्रेष्ठ है वह आचरो जिनदेव का आदेश यह ॥७७॥
 गल गये जिसके मान मिथ्या मोह वह समचित्त ही ।
 त्रिभुवन में सार ऐसे रत्नत्रय को प्राप्त हो ॥७८॥
 जो श्रमण विषयों से विरत वे सोलहकारणभावना ।
 भा तीर्थकर नामक प्रकृति को बाँधते अतिशीघ्र ही ॥७९॥
 तेरह क्रिया तप वार विध भा विविध मनवचकाय से ।
 हे मुनिप्रवर ! मनमत्तगज वशकरो अंकुश ज्ञान से ॥८०॥
 वस्त्र विरहित क्षिति शयन भिक्षा असन संयम सहित ।
 जिनलिंग निर्मल भाव भावित भावना परिशुद्ध है ॥८१॥
 ज्यों श्रेष्ठ चंदन वृक्ष में हीरा रतन में श्रेष्ठ है ।
 त्यों धर्म में भवभावनाशक एक ही जिनधर्म है ॥८२॥
 व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं ।
 दृग्मोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आतमधर्म है ॥८३॥

अर पुण्य भी है धर्म – ऐसा जान जो श्रद्धा करें।
 वे भोग की प्राप्ति करें पर कर्म क्षय न कर सकें ॥८४॥
 रागादि विरहित आतमा रत आतमा ही धर्म है।
 भव तरण-तारण धर्म यह जिनवर कथन का मर्म है ॥८५॥
 जो नहीं चाहे आतमा अर पुण्य ही करता रहे।
 वह मुक्ति को पाता नहीं संसार में रुलता रहे ॥८६॥
 इसलिए पूरी शक्ति से निज आतमा को जानकर।
 श्रद्धा करो उसमें रमो नित मुक्तिपद पा जाओगे ॥८७॥
 सप्तम नरक में गया तन्दुल मत्स्य हिंसक भाव से।
 यह जानकर हे आत्मन् ! नित करो आतमभावना ॥८८॥
 आतमा की भावना बिन गिरि-गुफा आवास सब।
 अर ज्ञान अध्ययन आदि सब करनी निरर्थक जानिये ॥८९॥
 इन लोकरंजक बाह्यव्रत से अरे कुछ होगा नहीं।
 इसलिए पूर्ण प्रयत्न से मन इन्द्रियों को वश करो ॥९०॥
 मिथ्यात्व अर नोकषायों को तजो शुद्ध स्वभाव से।
 देव प्रवचन गुरु की भक्ति करो आदेश यह ॥९१॥
 तीर्थकरों ने कहा गणधरदेव ने गूँथा जिसे।
 शुद्धभाव से भावो निरन्तर उस अतुल श्रुतज्ञान को ॥९२॥
 श्रुतज्ञानजल के पान से ही शान्त हो भवदुखतृषा।
 त्रैलोक्यचूड़ामणी शिवपद प्राप्त हो आनन्दमय ॥९३॥
 जिनवरकथित बाईस परीषह सहो नित समचित्त हो।
 बचो संयमघात से हे मुनि ! नित अप्रमत्त हो ॥९४॥
 जल में रहे चिरकाल पर पत्थर कभी भिदता नहीं।
 त्यों परीषह उपसर्ग से साधु कभी भिदता नहीं ॥९५॥
 भावना द्वादश तथा पच्चीस व्रत की भावना।
 भावना बिन मात्र कोरे वेष से क्या लाभ है ॥९६॥

है सर्वविरती तथापि तत्त्वार्थ की भा भावना।
 गुणथान जीवसमास की भी तू सदा भा भावना ॥९७॥
 भयंकर भव-वन विषैं भ्रमता रहा आशक्त हो।
 बस इसलिए नवकोटि से ब्रह्मचर्य को धारण करो ॥९८॥
 भाववाले साधु साधे चतुर्विध आराधना।
 पर भाव विरहित भटकते चिरकाल तक संसार में ॥९९॥
 तिर्यच मनुज कुदेव होकर द्रव्यलिंगी दुःख लहें।
 पर भावलिंगी सुखी हों आनन्दमय अपवर्ग में ॥१००॥
 अशुद्धभावों से छियालिस दोष दूषित असन कर।
 तिर्यचगति में दुख अनेकों बार भोगे विवश हो ॥१०१॥
 अतिगृद्धता अर दर्प से रे सचित्त भोजन पान कर।
 अति दुःख पाये अनादि से इसका भी जरा विचार कर ॥१०२॥
 अर कंद मूल बीज फूल पत्र आदि सचित्त सब।
 सेवन किये मदमत्त होकर भ्रमे भव में आजतक ॥१०३॥
 विनय पंच प्रकार पालो मन वचन अर काय से।
 अविनयी को मुक्ति की प्राप्ति कभी होती नहीं ॥१०४॥
 निजशक्ति के अनुसार प्रतिदिन भक्तिपूर्वक चाव से।
 हे महायश ! तुम करो वैयावृत्ति दशविध भाव से ॥१०५॥
 अरे मन वचन काय से यदि हो गया कुछ दोष तो।
 मान माया त्याग कर गुरु के समक्ष प्रगट करो ॥१०६॥
 निष्ठुर कटुक दुर्जन वचन सत्पुरुष सहें स्वभाव से।
 सब कर्मनाशन हेतु तुम भी सहो निर्ममभाव से ॥१०७॥
 अर क्षमामंडित मुनि प्रकट ही पाप सब खण्डित करें।
 सुरपति उरग-नरनाथ उनके चरण में वंदन करें ॥१०८॥
 यह जानकर हे क्षमागुणमुनि ! मन-वचन अर काय से।
 सबको क्षमा कर बुझा दो क्रोधादि क्षमास्वभाव से ॥१०९॥

असार है संसार सब यह जान उत्तम बोधि की ।
 अविकार मन से भावना भा अरे दीक्षाकाल सम ॥११०॥
 अंतरंग शुद्धिपूर्वक तू चतुर्विध द्रवलिङ्ग धर ।
 क्योंकि भाव बिना द्रवलिङ्ग कार्यकारी है नहीं ॥१११॥
 आहार भय मैथुन परीग्रह चार संज्ञा धारकर ।
 भ्रमा भववन में अनादिकाल से हो अन्य वश ॥११२॥
 भावशुद्धिपूर्वक पूजादि लाभ न चाहकर ।
 निज शक्ति से धारण करो आतपन आदि योग को ॥११३॥
 प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पंचम तत्त्व की ।
 आद्यन्तरहित त्रिवर्ग हर निज आत्मा की भावना ॥११४॥
 भावों निरन्तर बिना इसके चिन्तवन अर ध्यान के ।
 जरा-मरण से रहित सुखमय मुक्ति की प्राप्ति नहीं ॥११५॥
 परिणाम से ही पाप सब अर पुण्य सब परिणाम से ।
 यह जैनशासन में कहा बंधमोक्ष भी परिणाम से ॥११६॥
 जिनवचपरान्मुख जीव यह मिथ्यात्व और कषाय से ।
 ही बांधते हैं करम अशुभ असंयम से योग से ॥११७॥
 भावशुद्धीवंत अर जिन-वचन अराधक जीव ही ।
 हैं बाँधते शुभकर्म यह संक्षेप में बंधन-कथा ॥११८॥
 अष्टकर्मों से बंधा हूँ अब इन्हें मैं दग्धकर ।
 ज्ञानादिगुण की चेतना निज में अनंत प्रकट करूँ ॥११९॥
 शील अठदशसहस उत्तर गुण कहे चौरासी लख ।
 भा भावना इन सभी की इससे अधिक क्या कहें हम ॥१२०॥
 रौद्रार्त वश चिरकाल से दुःख सहे अगणित आजतक ।
 अब तज इन्हें ध्या धरमसुखमय शुक्ल भव के अन्ततक ॥१२१॥
 इन्द्रिय-सुखाकुल द्रव्यलिङ्गी कर्मतरु नहिं काटते ।
 पर भावलिङ्गी भवतरु को ध्यान करवत काटते ॥१२२॥

ज्यों गर्भगृह में दीप जलता पवन से निर्बाध हो ।
 त्यों जले निज में ध्यान दीपक राग से निर्बाध हो ॥१२३॥
 शुद्धात्म एवं पंचगुरु का ध्यान धर इस लोक में ।
 वे परम मंगल परम उत्तम और वे ही हैं शरण ॥१२४॥
 आनन्दमय मृतु जरा व्याधि वेदना से मुक्त जो ।
 वह ज्ञानमय शीतल विमल जल पियो भविजन भाव से ॥१२५॥
 ज्यों बीज के जल जाने पर अंकुर नहीं उत्पन्न हो ।
 कर्मबीज के जल जाने पर न भवांकुर उत्पन्न हो ॥१२६॥
 भावलिङ्गी सुखी होते द्रव्यलिङ्गी दुःख लहें ।
 गुण-दोष को पहिचानकर सब भाव से मुनिपद गहें ॥१२७॥
 भाव से जो हैं श्रमण जिनवर कहें संक्षेप में ।
 सब अभ्युदय के साथ ही वे तीर्थकर गणधर बनें ॥१२८॥
 जो ज्ञान-दर्शन-चरण से हैं शुद्ध माया रहित हैं ।
 रे धन्य हैं वे भावलिङ्गी संत उनको नमन है ॥१२९॥
 जो धीर हैं गम्भीर हैं जिन भावना से सहित हैं ।
 वे ऋद्धियों में मुग्ध न हों अमर विद्याधरों की ॥१३०॥
 इन ऋद्धियों से इसतरह निरपेक्ष हों जो मुनि धवल ।
 क्यों अरे चाहें वे मुनी निस्सार नरसुर सुखों को ॥१३१॥
 करले भला तबतलक जबतक वृद्धपन आवे नहीं ।
 अरे देह में न रोग हो बल इन्द्रियों का ना घटे ॥१३२॥
 छह काय की रक्षा करो षट् अनायतन को त्यागकर ।
 और मन-वच-काय से तू ध्या सदा निज आतमा ॥१३३॥
 भवभ्रमण करते आजतक मन-वचन एवं काय से ।
 दश प्राणों का भोजन किया निज पेट भरने के लिये ॥१३४॥
 इन प्राणियों के घात से योनी चौरासी लाख में ।
 बस जन्मते मरते हुये, दुख सहे तूने आजतक ॥१३५॥

यदि भवभ्रमण से ऊबकर तू चाहता कल्याण है ।
 तो मन वचन अर काय से सब प्राणियों को अभय दे ॥१३६॥
 अक्रियावादी चुरासी बत्तीस विनयावादि हैं ।
 सौ और अस्सी क्रियावादी सरसठ अरे अज्ञानि हैं ॥१३७॥
 गुड़-दूध पीकर सर्प ज्यों विषरहित होता है नहीं ।
 अभव्य त्यों जिनधर्म सुन अपना स्वभाव तजे नहीं ॥१३८॥
 मिथ्यात्व से आछन्नबुद्धि अभव्य दुर्मति दोष से ।
 जिनवरकथित जिनधर्म की श्रद्धा कभी करता नहीं ॥१३९॥
 तप तपें कुत्सित और कुत्सित साधु की भक्ति करें ।
 कुत्सित गति को प्राप्त हों रे मूढ़ कुत्सितधर्मरत ॥१४०॥
 कुनय अर कुशास्त्र मोहित जीव मिथ्यावास में ।
 घूमा अनादिकाल से हे धीर ! सोच विचार कर ॥१४१॥
 तीन शत त्रिषष्टि पाखण्डी मतों को छोड़कर ।
 जिनमार्ग में मन लगा इससे अधिक मुनिवर क्या कहें ॥१४२॥
 अरे समकित रहित साधु सचल मुरदा जानियें ।
 अपूज्य है ज्यों लोक में शव त्योंहि चलशव मानिये ॥१४३॥
 तारागणों में चन्द्र ज्यों अर मृगों में मृगराज ज्यों ।
 श्रमण-श्रावक धर्म में त्यों एक समकित जानिये ॥१४४॥
 नागेन्द्र के शुभ सहस्रफण में शोभता माणिक्य ज्यों ।
 अरे समकित शोभता त्यों मोक्ष के मारग विषैं ॥१४५॥
 चन्द्र तारागण सहित ही लसे नभ में जिसतरह ।
 व्रत तप तथा दर्शन सहित जिनलिंग शोभे उसतरह ॥१४६॥
 इमि जानकर गुण-दोष मुक्ति महल की सीढ़ी प्रथम ।
 गुण रतन में सार समकित रतन को धारण करो ॥१४७॥
 देहमित अर कर्त्ता-भोक्ता जीव दर्शन-ज्ञानमय ।
 अनादि अनिधन अमूर्तिक है कहा जिनवरदेव ने ॥१४८॥

जिन भावना से सहित भवि दर्शनावरण-ज्ञानावरण ।
 अर मोहनी अन्तराय का जड़ मूल से मर्दन करें ॥१४९॥
 हो घातियों का नाश दर्शन-ज्ञान-सुख-बल अनन्ते ।
 हो प्रगट आतम माहिं लोकालोक आलोकित करें ॥१५०॥
 यह आत्मा परमात्मा शिव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध है ।
 ज्ञानि है परमेष्ठि है सर्वज्ञ कर्म विमुक्त है ॥१५१॥
 घन-घाति कर्म विमुक्त अर त्रिभुवनसदन संदीप जो ।
 अर दोष अष्टादश रहित वे देव उत्तम बोधि दें ॥१५२॥
 जिनवर चरण में नमें जो नर परम भक्तिभाव से ।
 वर भाव से वे उखाड़े भवबेलि को जड़मूल से ॥१५३॥
 जल में रहें पर कमल पत्ते लिप्त होते हैं नहीं ।
 सत्पुरुष विषय-कषाय में त्यों लिप्त होते हैं नहीं ॥१५४॥
 सब शील संयम गुण सहित जो उन्हें हम मुनिवर कहें ।
 बहु दोष के आवास जो हैं अरे श्रावक सम न वे ॥१५५॥
 जीते जिन्होंने प्रबल दुर्द्धर अर अजेय कषाय भट ।
 रे क्षमादम तलवार से वे धीर हैं वे वीर हैं ॥१५६॥
 विषय सागर में पड़े भवि ज्ञान-दर्शन करों से ।
 जिनने उतारे पार जग में धन्य हैं भगवंत वे ॥१५७॥
 पुष्पित विषयमय पुष्पों से अर मोहवृक्षारूढ़ जो ।
 अशेष माया बेलि को मुनि ज्ञानकरवत काटते ॥१५८॥
 मोहमद गौरवरहित करुणासहित मुनिराज जो ।
 अरे पापस्तंभ को चारित खड़ग से काटते ॥१५९॥
 सद्गुणों की मणिमाल जिनमत गगन में मुनि निशाकर ।
 तारावली परिवेष्टित हैं शोभते पूर्णेन्दु सम ॥१६०॥
 चक्रधर बलराम केशव इन्द्र जिनवर गणपति ।
 अर ऋद्धियों को पा चुके जिनके हैं भाव विशुद्धवर ॥१६१॥

जो अमर अनुपम अतुल शिव अर परम उत्तमविमल है ।
 पा चुके ऐसा मुक्ति सुख जिनभावना भा नेक नर ॥१६२॥
 जो निरंजन हैं नित्य हैं त्रैलोक्य महिमावंत हैं ।
 वे सिद्ध दर्शन-ज्ञान अर चारित्र शुद्धि दें हमें ॥१६३॥
 इससे अधिक क्या कहें हम धर्मार्थकाम रु मोक्ष में ।
 या अन्य सब ही कार्य में है भाव की ही मुख्यता ॥१६४॥
 इसतरह यह सर्वज्ञ भासित भावपाहुड जानिये ।
 भाव से जो पढ़ें अविचल थान को वे पायेंगे ॥१६५॥

-●-

मोक्षपाहुड

परद्रव्य को परित्याग पाया ज्ञानमय निज आतमा ।
 शत बार उनको हो नमन निष्कर्म जो परमात्मा ॥१॥
 परमपदधित शुध अपरिमित ज्ञान-दर्शनमय प्रभु ।
 को नमन कर हे योगिजन ! परमात्म का वर्णन करुँ ॥२॥
 योगस्थ योगीजन अनवरत अरे ! जिसको जान कर ।
 अनंत अब्याबाध अनुपम मोक्ष की प्राप्ति करें ॥३॥
 त्रिविध आतमराम में बहिरातमापन त्यागकर ।
 अन्तरात्म के आधार से परमात्मा का ध्यान धर ॥४॥
 ये इन्द्रियाँ बहिरातमा अनुभूति अन्तर आतमा ।
 जो कर्ममल से रहित हैं वे देव हैं परमात्मा ॥५॥
 है परमजिन परमेष्ठी है शिवंकर जिन शास्वता ।
 केवल अनिन्द्रिय सिद्ध है कल-मलरहित शुद्धात्मा ॥६॥
 जिनदेव का उपदेश यह बहिरातमापन त्यागकर ।
 अरे ! अन्तर आतमा परमात्मा का ध्यान धर ॥७॥
 निजरूप से च्युत बाह्य में स्फुरितबुद्धि जीव यह ।
 देहादि में अपनत्व कर बहिरात्मपन धारण करे ॥८॥

निज देहसम परदेह को भी जीव जानें मूढजन ।
 उन्हें चेतन जान सेवें यद्यपि वे अचेतन ॥९॥
 निजदेह को निज-आतमा परदेह को पर-आतमा ।
 ही जानकर ये मूढ सुत-दारादि में मोहित रहें ॥१०॥
 कुज्ञान में रत और मिथ्याभाव से भावित श्रमण ।
 मद-मोह से आच्छन्न भव-भव देह को ही चाहते ॥११॥
 जो देह से निरपेक्ष निर्मम निरारंभी योगिजन ।
 निर्द्वन्द्व रत निजभाव में वे ही श्रमण मुक्ति वरें ॥१२॥
 परद्रव्य में रत बंधें और विरक्त शिवरमणी वरें ।
 जिनदेव का उपदेश बंध-अबंध का संक्षेप में ॥१३॥
 नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं ।
 सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ॥१४॥
 किन्तु जो परद्रव्य रत वे श्रमण मिथ्यादृष्टि हैं ।
 मिथ्यात्व परिणत वे श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों से बंधें ॥१५॥
 परद्रव्य से हो दुर्गति निजद्रव्य से होती सुगति ।
 यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥१६॥
 जो आतमा से भिन्न चित्ताचित्त एवं मिश्र हैं ।
 उन सर्वद्रव्यों को अरे ! परद्रव्य जिनवर ने कहा ॥१७॥
 दुष्टाष्ट कर्मों से रहित जो ज्ञानविग्रह शुद्ध है ।
 वह नित्य अनुपम आतमा स्वद्रव्य जिनवर ने कहा ॥१८॥
 परद्रव्य से हो पराङ्मुख निजद्रव्य को जो ध्यावते ।
 जिनमार्ग में संलग्न वे निर्वाणपद को प्राप्त हों ॥१९॥
 शुद्धात्मा को ध्यावते जो योगि जिनवरमत विषैं ।
 निर्वाणपद को प्राप्त हों तब क्यों न पावें स्वर्ग वे ॥२०॥
 गुरु भार लेकर एक दिन में जाँय जो योजन शतक ।
 जावे न क्यों क्रोशार्द्ध में इस भुवनतल में लोक में ॥२१॥

जो अकेला जीत ले जब कोटि भट संग्राम में ।
 तब एक जन को क्यों न जीते वह सुभट संग्राम में ॥२२॥
 शुभभाव-तप से स्वर्ग-सुख सब प्राप्त करते लोक में ।
 पाया सो पाया सहजसुख निजध्यान से परलोक में ॥२३॥
 ज्यों शोधने से शुद्ध होता स्वर्ण बस इसतरह ही ।
 हो आतमा परमात्मा कालादि लब्धि प्राप्त कर ॥२४॥
 ज्यों धूप से छाया में रहना श्रेष्ठ है बस उसतरह ।
 अव्रतों से नरक व्रत से स्वर्ग पाना श्रेष्ठ है ॥२५॥
 जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
 वे कर्म ईंधन-दहन निज शुद्धात्मा को ध्यावते ॥२६॥
 अरे मुनिजन मान-मद आदिक कषायें छोड़कर ।
 लोक के व्यवहार से हों विरत ध्याते आतमा ॥२७॥
 मिथ्यात्व एवं पाप-पुन अज्ञान तज मन-वचन से ।
 अर मौन रह योगस्थ योगी आतमा को ध्यावते ॥२८॥
 दिखाई दे जो मुझे वह रूप कुछ जाने नहीं ।
 मैं करूँ किससे बात मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ ॥२९॥
 सर्वास्रवों के रोध से संचित करम खप जाय सब ।
 जिनदेव के इस कथन को योगस्थ योगी जानते ॥३०॥
 जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।
 जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ॥३१॥
 इमि जान जोगी छोड़ सब व्यवहार सर्वप्रकार से ।
 जिनवर कथित परमात्मा का ध्यान धरते सदा ही ॥३२॥
 पंच समिति महाव्रत अर तीन गुप्ति धर यती ।
 रतनत्रय से युक्त होकर ध्यान अर अध्ययन करो ॥३३॥
 आराधना करते हुये को अराधक कहते सभी ।
 आराधना का फल सुनो बस एक केवलज्ञान है ॥३४॥

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आतमा सिध शुद्ध है ।
 यह कहा जिनवरदेव ने तुम स्वयं केवलज्ञानमय ॥३५॥
 रतन त्रय जिनवर कथित आराधना जो यति करें ।
 वे धरें आतम ध्यान ही संदेह इसमें रंच ना ॥३६॥
 जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।
 पुण्य-पाप का परिहार चारित यही जिनवर ने कहा ॥३७॥
 तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
 जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ॥३८॥
 दृग-शुद्ध हैं वे शुद्ध उनको नियम से निर्वाण हो ।
 दृग-भ्रष्ट हैं जो पुरुष उनको नहीं इच्छित लाभ हो ॥३९॥
 उपदेश का यह सार जन्म-जरा-मरण का हरणकर ।
 समदृष्टि जो मानें इसे वे श्रमण श्रावक कहे हैं ॥४०॥
 यह सर्वदर्शी का कथन कि जीव और अजीव की ।
 भिन-भिन्नता को जानना ही एक सम्यग्ज्ञान है ॥४१॥
 इमि जान करना त्याग सब ही पुण्य एवं पाप का ।
 चारित्र है यह निर्विकल्पक कथन यह जिनदेव का ॥४२॥
 रतनत्रय से युक्त हो जो तप करे संयम धरे ।
 वह ध्यान धर निज आतमा का परमपद को प्राप्त हो ॥४३॥
 रुष-राग का परिहार कर त्रययोग से त्रयकाल में ।
 त्रयशल्य विरहित रतनत्रय धर योगि ध्यावे आतमा ॥४४॥
 जो जीव माया-मान-लालच-क्रोध को तज शुद्ध हो ।
 निर्मल-स्वभाव धरे वही नर परमसुख को प्राप्त हो ॥४५॥
 जो रुद्र विषय-कषाय युत जिन भावना से रहित हैं ।
 जिनलिंग से हैं पराङ्मुख वे सिद्धसुख पावें नहीं ॥४६॥
 जिनवरकथित जिनलिंग ही है सिद्धसुख यदि स्वप्न में ।
 भी ना रुचे तो जान लो भव गहन वन में वे रुलें ॥४७॥

परमात्मा के ध्यान से हो नाश लोभ कषाय का ।
 नवकर्म का आस्रव रुके यह कथन जिनवरदेव का ॥४८॥
 जो योगि सम्यक्दर्शपूर्वक चारित्र दृढ़ धारण करे ।
 निज आत्मा का ध्यानधर वह मुक्ति की प्राप्ति करे ॥४९॥
 चारित्र ही निजधर्म है अर धर्म आत्मस्वभाव है ।
 अनन्य निज परिणाम वह ही राग-द्वेष विहीन है ॥५०॥
 फटिकमणिसम जीव शुध पर अन्य के संयोग से ।
 वह अन्य-अन्य प्रतीत हो पर मूलतः तो अनन्य ही ॥५१॥
 देव-गुरु का भक्त अर अनुरक्त साधक वर्ग में ।
 सम्यक्सहित निज ध्यानरत ही योगि हो इस जगत में ॥५२॥
 उग्र तप तप अज्ञ भव-भव में न जितने क्षय करें ।
 विज्ञ अन्तर्मुहूरत में कर्म उतने क्षय करें ॥५३॥
 परद्रव्य में जो साधु करते राग शुभ के योग से ।
 वे अज्ञ हैं पर विज्ञ राग नहीं करें परद्रव्य में ॥५४॥
 निज भाव से विपरीत अर जो आस्रवों के हेतु हैं ।
 जो उन्हें मानें मुक्तिमग वे साधु सचमुच अज्ञ हैं ॥५५॥
 अरे जो कर्मजमति वे करें आत्मस्वभाव को ।
 खण्डित अतः वे अज्ञजन जिनधर्म के दूषक कहे ॥५६॥
 चारित रहित है ज्ञान-दर्शन हीन तप संयुक्त है ।
 क्रिया भाव विहीन तो मुनिवेष से क्या साध्य है ॥५७॥
 जो आत्मा को अचेतन हैं मानते अज्ञानि वे ।
 पर ज्ञानिजन तो आत्मा को एक चेतन मानते ॥५८॥
 निरर्थक तप ज्ञान विरहित तप रहित जो ज्ञान है ।
 यदि ज्ञान तप हों साथ तो निर्वाणपद की प्राप्ति हो ॥५९॥
 क्योंकि चारों ज्ञान से भी महामण्डित तीर्थकर ।
 भी तप करें बस इसलिए तप करो सम्यग्ज्ञान युत ॥६०॥

स्वानुभव से भ्रष्ट एवं शून्य अन्तरलिंग से ।
 बहिर्लिंग जो धारण करें वे मोक्षमग नाशक कहे ॥६१॥
 अनुकूलता में जो सहज प्रतिकूलता में नष्ट हों ।
 इसलिये प्रतिकूलता में करो आतम साधना ॥६२॥
 आहार निद्रा और आसन जीत ध्याओ आतमा ।
 बस यही है जिनदेव का मत यही गुरु की आज्ञा ॥६३॥
 ज्ञान दर्शन चरित मय जो आतमा जिनवर कहा ।
 गुरु की कृपा से जानकर नित ध्यान उसका ही करो ॥६४॥
 आतमा का जानना भाना व करना अनुभवन ।
 तथा विषयों से विरक्ति उत्तरोत्तर है कठिन ॥६५॥
 जबतक विषय में प्रवृत्ति तबतक न आतमज्ञान हो ।
 इसलिए आतम जानते योगी विषय विरक्त हो ॥६६॥
 निज आतमा को जानकर भी मूढ़ रमते विषय में ।
 हो स्वानुभव से भ्रष्ट भ्रमते चतुर्गति संसार में ॥६७॥
 अरे विषय विरक्त हो निज आतमा को जानकर ।
 जो तपोगुण से युक्त हों वे चतुर्गति से मुक्त हों ॥६८॥
 यदि मोह से पर द्रव्य में रति रहे अणु परिमाण में ।
 विपरीतता के हेतु से वे मूढ़ अज्ञानी रहें ॥६९॥
 शुद्ध दर्शन दृढ़ चरित एवं विषय विरक्त नर ।
 निर्वाण को पाते सहज निज आतमा का ध्यान धर ॥७०॥
 पर द्रव्य में जो राग वह संसार कारण जानना ।
 इसलिये योगी करें नित निज आतमा की भावना ॥७१॥
 निन्दा-प्रशंसा दुःख-सुख अर शत्रु-बंधु-मित्र में ।
 अनुकूल अर प्रतिकूल में समभाव ही चारित्र है ॥७२॥
 जिनके नहीं व्रत-समिति चर्या भ्रष्ट हैं शुधभाव से ।
 वे कहें कि इस काल में निज ध्यान-योग नहीं बने ॥७३॥

जो शिवविमुख नर भोग में रत ज्ञानदर्शन रहित हैं ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान-योग नहीं बने ॥७४॥
जो मूढ़ अज्ञानी तथा व्रत समिति गुप्ति रहित हैं ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान-योग नहीं बने ॥७५॥
भरत-पंचमकाल में निजभाव में थित संत के ।
नित धर्मध्यान रहे न माने जीव जो अज्ञानि वे ॥७६॥
रतनत्रय से शुद्ध आतम आतमा का ध्यान धर ।
आज भी हों इन्द्र आदिक प्राप्त करते मुक्ति फिर ॥७७॥
जिन लिंग धर कर पाप करते पाप मोहितमति जो ।
वे च्युत हुए हैं मुक्तिमग से दुर्गति दुर्मति हो ॥७८॥
हैं परिग्रही अधःकर्मरत आसक्त जो वस्त्रादि में ।
अर याचना जो करें वे सब मुक्तिमग से बाह्य हैं ॥७९॥
रे मुक्त हैं जो जितकषायी पाप के आरंभ से ।
परिषहजयी निर्ग्रथ वे ही मुक्तिमार्ग में कहे ॥८०॥
त्रैलोक में मेरा न कोई मैं अकेला आतमा ।
इस भावना से योगिजन पाते सदा सुख शास्वता ॥८१॥
जो ध्यानरत सुचरित्र एवं देव-गुरु के भक्त हैं ।
संसार-देह विरक्त वे मुनि मुक्तिमार्ग में कहे ॥८२॥
निजद्रव्यरत यह आतमा ही योगि चारित्रवंत है ।
यह ही बने परमात्मा परमार्थनय का कथन यह ॥८३॥
ज्ञानदर्शनमय अवस्थित पुरुष के आकार में ।
ध्याते सदा जो योगि वे ही पापहर निर्द्वन्द हैं ॥८४॥
जिनवरकथित उपदेश यह तो कहा श्रमणों के लिए ।
अब सुनो सुखसिद्धिकर उपदेश श्रावक के लिए ॥८५॥
सबसे प्रथम सम्यक्त्व निर्मल सर्व दोषों से रहित ।
कर्मक्षय के लिये श्रावक-श्राविका धारण करें ॥८६॥

अरे सम्यग्दृष्टि है सम्यक्त्व का ध्याता गृही ।
दुष्टाष्ट कर्मों को दहे सम्यक्त्व परिणत जीव ही ॥८७॥
मुक्ति गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥८८॥
वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं वे शूर नर पण्डित वही ।
दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ॥८९॥
सब दोष विरहित देव अर हिंसारहित जिनधर्म में ।
निर्ग्रन्थ गुरु के वचन में श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥९०॥
यथाजातस्वरूप संयत सर्व संग विमुक्त जो ।
पर की अपेक्षा रहित लिंग जो मानते समदृष्टि वे ॥९१॥
जो लाज-भय से नमें कुत्सित लिंग कुत्सित देव को ।
और सेवें धर्म कुत्सित जीव मिथ्यादृष्टि वे ॥९२॥
अरे रागी देवता अर स्वपरपेक्षा लिंगधर ।
व असंयत की वंदना न करें सम्यग्दृष्टिजन ॥९३॥
जिनदेव देशित धर्म की श्रद्धा करें सदृष्टिजन ।
विपरीतता धारण करें बस सभी मिथ्यादृष्टिजन ॥९४॥
अरे मिथ्यादृष्टिजन इस सुखरहित संसार में ।
प्रचुर जन्म-जरा-मरण के दुख हजारों भोगते ॥९५॥
जानकर सम्यक्त्व के गुण दोष मिथ्याभाव के ।
जो रुचे वह ही करो अधिक प्रलाप से है लाभ क्या ॥९६॥
छोड़ा परिग्रह बाह्य मिथ्याभाव को नहीं छोड़ते ।
वे मौन ध्यान धरें परन्तु आतमा नहीं जानते ॥९७॥
मूलगुण उच्छेद बाह्य क्रिया करें जो साधुजन ।
हैं विराधक जिनलिंग के वे मुक्ति-सुख पाते नहीं ॥९८॥
आत्मज्ञान बिना विविध-विध विविध क्रिया-कलाप सब ।
और जप-तप पद्म-आसन क्या करेंगे आत्महित ॥९९॥

यदि पढ़े बहुश्रुत और विविध क्रिया-कलाप करे बहुत ।
 पर आतमा के भान बिन बालाचरण अर बालश्रुत ॥१००॥
 निजसुख निरत भवसुख विरत परद्रव्य से जो पराङ्मुख ।
 वैराग्य तत्पर गुणविभूषित ध्यान धर अध्ययन सुरत ॥१०१॥
 आदेय क्या है हेय क्या - यह जानते जो साधुगण ।
 वे प्राप्त करते थान उत्तम जो अनन्तानन्दमय ॥१०२॥
 जिनको नमे थुति करे जिनकी ध्यान जिनका जग करे ।
 वे नमें ध्यावें थुति करें तू उसे ही पहिचान ले ॥१०३॥
 अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण ।
 सब आतमा की अवस्थायें आतमा ही है शरण ॥१०४॥
 सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
 सब आतमा की अवस्थायें आतमा ही है शरण ॥१०५॥
 जिनवरकथित यह मोक्षपाहुड जो पुरुष अति प्रीति से ।
 अध्ययन करें भावें सुनें वे परमसुख को प्राप्त हों ॥१०६॥

-●-

लिंगपाहुड

कर नमन श्री अरिहंत को सब सिद्ध को करके नमन ।
 संक्षेप में मैं कह रहा हूँ लिंगपाहुड शास्त्र यह ॥१॥
 धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो ।
 समभाव को पहिचानिये द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥२॥
 परिहास में मोहितमती धारण करें जिनलिंग जो ।
 वे अज्ञजन बदनाम करते नित्य जिनवर लिंग को ॥३॥
 जो नाचते गाते बजाते वाद्य जिनवर लिंगधर ।
 हैं पाप मोहितमती रे वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥४॥
 जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से ।
 वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥५॥

अर कलह करते जुआ खेलें मानमंडित नित्य जो ।
 वे प्राप्त होते नरकगति को सदा ही जिन लिंगधर ॥६॥
 जो पाप उपहत आतमा अब्रह्म सेवें लिंगधर ।
 वे पाप मोहितमती जन संसारवन में नित भ्रमं ॥७॥
 जिनलिंगधर भी ज्ञान-दर्शन-चरण धारण ना करें ।
 वे आर्तध्यानी द्रव्यलिंगी नंत संसारी कहे ॥८॥
 रे जो करावें शादियाँ कृषि वणज कर हिंसा करें ।
 वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥९॥
 जो चोर लाबर लड़ावें अर यंत्र से क्रीडा करें ।
 वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥१०॥
 ज्ञान-दर्शन-चरण तप संयम नियम पालन करें ।
 पर दुःखी अनुभव करें तो जावें नियम से नरक में ॥११॥
 कन्दर्प आदि में रहें अति गृद्धता धारण करें ।
 हैं छली व्याभिचारी अरे ! वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१२॥
 जो कलह करते दौड़ते हैं इष्ट भोजन के लिये ।
 अर परस्पर ईर्षा करें वे श्रमण जिनमार्गी नहीं ॥१३॥
 बिना दीये ग्रहें परनिन्दा करें जो परोक्ष में ।
 वे धरें यद्यपि लिंगजिन फिर भी अरे वे चोर हैं ॥१४॥
 ईर्या समिति की जगह पृथ्वी खोदते दौड़ें गिरें ।
 रे पशूवत उठकर चलें वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१५॥
 जो बंधभय से रहित पृथ्वी खोदते तरु छेदते ।
 अर हरित भूमी रोंधते वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१६॥
 राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें ।
 सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच है ॥१७॥
 श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो ।
 हीन विनयाचार से वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१८॥

इस तरह वे भ्रष्ट रहते संघर्षों के संघ में ।
 रे जानते बहुशास्त्र फिर भी भाव से तो नष्ट हैं ॥१९॥
 पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिलावर्ग में ।
 रत ज्ञान-दर्शन-चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग हैं ॥२०॥
 जो पुंश्चली के हाथ से आहार लें शंशा करें ।
 निज पिंड पोसें वालमुनि वे भाव से तो नष्ट हैं ॥२१॥
 सर्वज्ञभाषित धर्ममय यह लिंगपाहुड जानकर ।
 अप्रमत्त हो जो पालते वे परमपद को प्राप्त हों ॥२२॥

-•-

शीलपाहुड

विशाल जिनके नयन अर रक्तोत्पल जिनके चरण ।
 त्रिविध नम उन वीर को मैं शील गुण वर्णन करूँ ॥१॥
 शील एवं ज्ञान में कुछ भी विरोध नहीं कहा ।
 शील बिन तो विषयविष से ज्ञानधन का नाश हो ॥२॥
 बड़ा दुष्कर जानना अर जानने की भावना ।
 एवं विरक्ति विषय से भी बड़ी दुष्कर जानना ॥३॥
 विषय बल हो जबतलक तबतलक आतमज्ञान ना ।
 केवल विषय की विरक्ति से कर्म का हो नाश ना ॥४॥
 दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
 संयम रहित तप निरर्थक आकास-कुसुम समान हो ॥५॥
 दर्शन सहित हो वेश चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
 संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ॥६॥
 ज्ञान हो पर विषय में हों लीन जो नर जगत में ।
 रे विषयरत वे मूढ़ डोलें चार गति में निरन्तर ॥७॥
 जानने की भावना से जान निज को विरत हों ।
 रे वे तपस्वी चार गति को छेदते संदेह ना ॥८॥

जिसतरह कंचन शुद्ध हो खड़िया-नमक के लेप से ।
 बस उसतरह हो जीव निर्मल ज्ञान जल के लेप से ॥९॥
 हो ज्ञानगर्भित विषयसुख में रमें जो जन योग से ।
 उस मंदबुद्धि कापुरुष के ज्ञान का कुछ दोष ना ॥१०॥
 जब ज्ञान, दर्शन, चरण, तप सम्यक्त्व से संयुक्त हो ।
 तब आतमा चारित्र से प्राप्ति करे निर्वाण की ॥११॥
 शील रक्षण शुद्ध दर्शन चरण विषयों से विरत ।
 जो आतमा वे नियम से प्राप्ति करें निर्वाण की ॥१२॥
 सन्मार्गदर्शी ज्ञानि तो है सुज्ञ यद्यपि विषयरत ।
 किन्तु जो उन्मार्गदर्शी ज्ञान उनका व्यर्थ है ॥१३॥
 यद्यपि बहुशास्त्र जाने कुमत कुश्रुत प्रशंसक ।
 रे शीलव्रत से रहित हैं वे आत्म-आराधक नहीं ॥१४॥
 रूप योवन कान्ति अर लावण्य से सम्पन्न जो ।
 पर शीलगुण से रहित हैं तो निरर्थक मानुष जनम ॥१५॥
 व्याकरण छन्दरु न्याय जिनश्रुत आदि से सम्पन्नता ।
 हो किन्तु इनमें जान लो तुम परम उत्तम शील गुण ॥१६॥
 शील गुण मण्डित पुरुष की देव भी सेवा करें ।
 ना कोई पूछे शील विरहित शास्त्रपाठी जनों को ॥१७॥
 हों हीन कुल सुन्दर न हों सब प्राणियों से हीन हों ।
 हों वृद्ध किन्तु सुशील हों नरभव उन्हीं का सफल है ॥१८॥
 इन्द्रियों का दमन करुणा सत्य सम्यक् ज्ञान-तप ।
 अचौर्य ब्रह्मोपासना सब शील के परिवार हैं ॥१९॥
 शील दर्शन-ज्ञान शुद्धि शील विषयों का रिपू ।
 शील निर्मल तप अहो यह शील सीढ़ी मोक्ष की ॥२०॥
 हैं यद्यपि सब प्राणियों के प्राण घातक सभी विष ।
 किन्तु इन सब विषों में है महादारुण विषयविष ॥२१॥

बस एक भव का नाश हो इस विषम विष के योग से ।
 पर विषयविष से ग्रसितजन चिरकाल भववन में भ्रमें ॥२२॥
 अरे विषयासक्त जन नर और तिर्यग् योनि में ।
 दुःख सहें यद्यपि देव हों पर दुःखी हों दुर्भाग्य से ॥२३॥
 अरे कुछ जाता नहीं तुष उड़ाने से जिसतरह ।
 विषय सुख को उड़ाने से शीलगुण उड़ता नहीं ॥२४॥
 गोल हों गोलाब्ध हों सुविशाल हों इस देह के ।
 सब अंग किन्तु सभी में यह शील उत्तम अंग है ॥२५॥
 भव-भव भ्रमें अरहत घटीसम विषयलोलुप मूढजन ।
 साथ में वे भी भ्रमें जो रहे उनके संग में ॥२६॥
 इन्द्रिय विषय के संग पढ़ जो कर्म बाँधे स्वयं ही ।
 सत्पुरुष उनको खपावे व्रत-शील-संयमभाव से ॥२७॥
 ज्यों रत्नमंडित उदधि शोभे नीर से बस उसतरह ।
 विनयादि हों पर आत्मा निर्वाण पाता शील से ॥२८॥
 श्वान गर्दभ गाय पशु अर नारियों को मोक्ष ना ।
 पुरुषार्थ चौथा मोक्ष तो बस पुरुष को ही प्राप्त हो ॥२९॥
 यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष हो तो बताओ ।
 दशपूर्वधारी सात्यकीसुत नरकगति में क्यों गया ॥३०॥
 यदि शील बिन भी ज्ञान निर्मल ज्ञानियों ने कहा तो ।
 दशपूर्वधारी रूद्र का भी भाव निर्मल क्यों न हो ॥३१॥
 यदि विषयविरक्त हो तो वेदना जो नरकगत ।
 वह भूलकर जिनपद लहे यह बात जिनवर ने कही ॥३२॥
 अरे! जिसमें अतीन्द्रिय सुख ज्ञान का भण्डार है ।
 वह मोक्ष केवल शील से हो प्राप्त - यह जिनवर कहें ॥३३॥
 ये ज्ञान दर्शन वीर्य तप सम्यक्त्व पंचाचार मिल ।
 जिम आग ईंधन जलावे तैसे जलावें कर्म को ॥३४॥

जो जितेन्द्रिय धीर विषय विरक्त तपसी शीलयुत ।
 वे अष्ट कर्मों से रहित हो सिद्धगति को प्राप्त हों ॥३५॥
 जिस श्रमण का यह जन्मतरु सर्वांग सुन्दर शीलयुत ।
 उस महात्मन् श्रमण का यश जगत में है फैलता ॥३६॥
 ज्ञानध्यानरु योगदर्शन शक्ति के अनुसार हैं ।
 पर रत्नत्रय की प्राप्ति तो सम्यक्त्व से ही जानना ॥३७॥
 जो शील से सम्पन्न विषय-विरक्त एवं धीर हैं ।
 वे जिनवचन के सारग्राही सिद्ध सुख को प्राप्त हो ॥३८॥
 सुख-दुख विवर्जित शुद्धमन अर कर्मरज से रहित जो ।
 वह क्षीणकर्मा गुणमयी प्रकटित हुई आराधना ॥३९॥
 विषय से वैराग्य अर्हतभक्ति सम्यक्दर्श से ।
 अर शील से संयुक्त ही हो ज्ञान की आराधना ॥४०॥
 पूरण हुआ आनन्द से श्रावण सुदी एकादशी ।
 को पद्यमय अनुवाद यह सन् दो सहस्र दो ईसवी ॥

-●-

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब हैं क्या ?
 आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान
 आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम
 इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान-आत्मा की ही शरण
 में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थाएँ हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थाएँ
 उत्पन्न हुई हैं । सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय,
 श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्ध-निश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज
 भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का
 आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना
 संभव होता है ।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-१९५

योगसार पद्यानुवाद

(हरिगीत)

सब कर्ममल का नाश कर अर प्राप्त कर निज आत्मा ।
जो लीन निर्मल ध्यान में नमकर निकल परमात्मा ॥१॥
सब नाश कर घनघाति अरि अरिहंत पद को पा लिया ।
कर नमन उन जिनदेव को यह काव्यपथ अपना लिया ॥२॥
है मोक्ष की अभिलाष अर भयभीत हैं संसार से ।
है समर्पित यह देशना उन भव्य जीवों के लिए ॥३॥
अनन्त है संसार-सागर जीव काल अनादि हैं ।
पर सुख नहीं, बस दुःख पाया मोह-मोहित जीव ने ॥४॥
भयभीत है यदि चतुर्गति से त्याग दे परभाव को ।
परमात्मा का ध्यान कर तो परमसुख को प्राप्त हो ॥५॥
बहिरात्मापन त्याग जो बन जाय अन्तर-आत्मा ।
ध्यावे सदा परमात्मा बन जाय वह परमात्मा ॥६॥
मिथ्यात्वमोहित जीव जो वह स्व-पर को नहीं जानता ।
संसार-सागर में भ्रमें दृगमूढ़ वह बहिरात्मा ॥७॥
जो त्यागता परभाव को अर स्व-पर को पहिचानता ।
है वही पण्डित आत्मज्ञानी स्व-पर को जो जानता ॥८॥
जो शुद्ध शिव जिन बुद्ध विष्णु निकल निर्मल शान्त है ।
बस है वही परमात्मा जिनवर-कथन निर्भ्रान्त है ॥९॥
जिनवर कहें 'देहादि पर' जो उन्हें ही निज मानता ।
संसार-सागर में भ्रमें वह आत्मा बहिरात्मा ॥१०॥
'देहादि पर' जिनवर कहें ना हो सकें वे आत्मा ।
यह जानकर तू मान ले निज आत्मा को आत्मा ॥११॥

तू पायगा निर्वाण माने आतमा को आतमा ।
पर भवभ्रमण हो यदी जाने देह को ही आतमा ॥१२॥
आतमा को जानकर इच्छारहित यदि तप करे ।
तो परमगति को प्राप्त हो संसार में घूमे नहीं ॥१३॥
परिणाम से ही बंध है अर मोक्ष भी परिणाम से ।
यह जानकर हे भव्यजन ! परिणाम को पहिचानिये ॥१४॥
निज आतमा जाने नहीं अर पुण्य ही करता रहे ।
तो सिद्धसुख पावे नहीं संसार में फिरता रहे ॥१५॥
निज आतमा को जानना ही एक मुक्तीमार्ग है ।
कोइ अन्य कारण है नहीं हे योगिजन ! पहिचान लो ॥१६॥
मार्गणा गुणथान का सब कथन है व्यवहार से ।
यदि चाहते परमेष्ठिपद तो आतमा को जान लो ॥१७॥
घर में रहे जो किन्तु हेयाहेय को पहिचानते ।
वे शीघ्र पावें मुक्तिपद जिनदेव को जो ध्यावते ॥१८॥
तुम करो चिन्तन स्मरण अर ध्यान आतमदेव का ।
बस एक क्षण में परमपद की प्राप्ति हो इस कार्य से ॥१९॥
मोक्षमग में योगिजन यह बात निश्चय जानिये ।
जिनदेव अर शुद्धात्मा में भेद कुछ भी है नहीं ॥२०॥
सिद्धान्त का यह सार माया छोड़ योगी जान लो ।
जिनदेव अर शुद्धात्मा में कोई अन्तर है नहीं ॥२१॥
है आतमा परमात्मा परमात्मा ही आतमा ।
हे योगिजन यह जानकर कोई विकल्प करो नहीं ॥२२॥
परिमाण लोकाकाश के जिसके प्रदेश असंख्य हैं ।
बस उसे जाने आतमा निर्वाण पावे शीघ्र ही ॥२३॥
व्यवहार देहप्रमाण अर परमार्थ लोकप्रमाण है ।
जो जानते इस भांति वे निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥२४॥

योनि लाख चुरासि में बीता अनन्ता काल है।
 पाया नहीं सम्यक्त्व फिर भी बात यह निर्भ्रान्त है ॥२५॥
 यदि चाहते हो मुक्त होना चेतनामय शुद्ध जिन।
 अर बुद्ध केवलज्ञानमय निज आतमा को जान लो ॥२६॥
 जबतक न भावे जीव निर्मल आतमा की भावना।
 तबतक न पावे मुक्ति यह लख करो उसकी भावना ॥२७॥
 त्रैलोक्य के जो ध्येय वे जिनदेव ही हैं आतमा।
 परमार्थ का यह कथन है निर्भ्रान्त यह तुम जान लो ॥२८॥
 जबतक न जाने जीव परमपवित्र केवल आतमा।
 तबतक न व्रत तप शील संयम मुक्ति के कारण कहे ॥२९॥
 जिनदेव का है कथन यह व्रत शील से संयुक्त हो।
 जो आतमा को जानता वह सिद्धसुख को प्राप्त हो ॥३०॥
 जबतक न जाने जीव परमपवित्र केवल आतमा।
 तबतक सभी व्रत शील संयम कार्यकारी हों नहीं ॥३१॥
 पुण्य से हो स्वर्ग नर्क निवास होवे पाप से।
 पर मुक्ति रमणी प्राप्त होती आत्मा के ध्यान से ॥३२॥
 व्रत शील संयम तप सभी हैं मुक्तिमग व्यवहार से।
 त्रैलोक्य में जो सार है वह आतमा परमार्थ से ॥३३॥
 परभाव को परित्याग कर अपनत्व आतम में करे।
 जिनदेव ने ऐसा कहा शिवपुर गमन वह नर करे ॥३४॥
 व्यवहार से जिनदेव ने छह द्रव्य तत्त्वारथ कहे।
 हे भव्यजन ! तुम विधीपूर्वक उन्हें भी पहिचान लो ॥३५॥
 है आतमा बस एक चेतन आतमा ही सार है।
 बस और सब हैं अचेतन यह जान मुनिजन शिव लहैं ॥३६॥
 जिनदेव ने ऐसा कहा निज आतमा को जान लो।
 यदि छोड़कर व्यवहार सब तो शीघ्र ही भवपार हो ॥३७॥

जो जीव और अजीव के गुणभेद को पहिचानता।
 है वही ज्ञानी जीव वह ही मोक्ष का कारण कहा ॥३८॥
 यदि चाहते हो मोक्षसुख तो योगियों का कथन यह।
 हे जीव! केवलज्ञानमय निज आतमा को जान लो ॥३९॥
 सुसमाधि अर्चन मित्रता अर कलह एवं वंचना।
 हम करें किसके साथ किसकी हैं सभी जब आतमा ॥४०॥
 गुरुकृपा से जबतक कि आतमदेव को नहीं जानता।
 तबतक भ्रमे कुत्तीर्थ में अर ना तजे जन धूर्तता ॥४१॥
 श्रुतकेवली ने यह कहा ना देव मन्दिर तीर्थ में।
 बस देह-देवल में रहें जिनदेव निश्चय जानिये ॥४२॥
 जिनदेव तनमन्दिर रहें जन मन्दिरों में खोजते।
 हँसी आती है कि मानो सिद्ध भोजन खोजते ॥४३॥
 देह देवल में नहीं रे मूढ़! ना चित्राम में।
 वे देह-देवल में रहें सम चित्त से यह जान ले ॥४४॥
 सारा जगत यह कहे श्री जिनदेव देवल में रहें।
 पर विरल ज्ञानी जन कहें कि देह-देवल में रहें ॥४५॥
 यदि जरा भी भय है तुझे इस जरा एवं मरण से।
 तो धर्मरस का पान कर हो जाय अजरा-अमर तू ॥४६॥
 पोथी पढ़े से धर्म ना ना धर्म मठ के वास से।
 ना धर्म मस्तक लुँच से ना धर्म पीछी ग्रहण से ॥४७॥
 परिहार कर रुष-राग आतम में वसे जो आतमा।
 बस पायगा पंचमगति वह आतमा धर्मात्मा ॥४८॥
 आयू गले मन ना गले ना गले आशा जीव की।
 मोहस्फुरे हित नास्फुरे यह दुर्गति इस जीव की ॥४९॥
 ज्यों मन रमें विषयानि में यदि आतमा में त्यों रमें।
 योगी कहें हे योगिजन ! तो शीघ्र जावे मोक्ष में ॥५०॥

'जर्जरित है नरकसम यह देह' - ऐसा जानकर ।
 यदि करो आतम भावना तो शीघ्र ही भवपार हो ॥५१॥
 धंधे पड़ा सारा जगत निज आतमा जाने नहीं ।
 बस इसलिए ही जीव यह निर्वाण को पाता नहीं ॥५३॥
 परतंत्रता मन-इन्द्रियों की जाय फिर क्या पूछना ।
 रुक जाँय राग-द्वेष तो हो उदित आतम भावना ॥५४॥
 जीव पुद्गल भिन्न हैं अरु भिन्न सब व्यवहार है ।
 यदि तजे पुद्गल गहे आतम सहज ही भवपार है ॥५५॥
 ना जानते-पहिचानते निज आतमा गहराई से ।
 जिनवर कहें संसार सागर पार वे होते नहीं ॥५६॥
 रतन दीपक सूर्य घी दधि दूध पत्थर अरु दहन ।
 सुवर्ण रूपा स्फटिकमणि से जानिये निज आत्म को ॥५७॥
 शून्यनभसम भिन्न जाने देह को जो आतमा ।
 सर्वज्ञता को प्राप्त हो अरु शीघ्र पावे आतमा ॥५८॥
 आकाशसम ही शुद्ध है निज आतमा परमात्मा ।
 आकाश है जड़ किन्तु चेतन तत्त्व तेरा आतमा ॥५९॥
 नासाग्र दृष्टिवंत हो देखें अदेही जीव को ।
 वे जनम धारण ना करें ना पिये जननी-क्षीर को ॥६०॥
 अशरीर को सुशरीर अरु इस देह को जड़ जान लो ।
 सब छोड़ मिथ्या-मोह इस जड़देह को पर मान लो ॥६१॥
 अपनत्व आतम में रहे तो कौन-सा फल ना मिले ।
 बस होय केवलज्ञान एवं अखय आनन्द परिणमे ॥६२॥
 परभाव को परित्याग जो अपनत्व आतम में करें ।
 वे लहें केवलज्ञान अरु संसार-सागर परिहरें ॥६३॥
 हैं धन्य वे भगवन्त बुध परभाव जो परित्यागते ।
 जो लोक और अलोक ज्ञायक आतमा को जानते ॥६४॥

सागर या अनगार हो पर आतमा में वास हो ।
 जिनवर कहें अति शीघ्र ही वह परमसुख को प्राप्त हो ॥६५॥
 विरले पुरुष ही जानते निज तत्त्व को विरले सुने ।
 विरले करें निज ध्यान अरु विरले पुरुष धारण करें ॥६६॥
 सुख-दुःख के हैं हेतु परिजन किन्तु 'वे परमार्थ से ।
 मेरे नहीं' - यह सोचने से मुक्त हों भवभार से ॥६७॥
 नागेन्द्र इन्द्र नरेन्द्र भी ना आतमा को शरण दें ।
 यह जानकर हि मुनीन्द्रजन निज आतमा शरणा गहें ॥६८॥
 जन्मे-मरे सुख-दुःख भोगे नरक जावे एकला ।
 अरे! मुक्तीमहल में भी जायेगा जिय एकला ॥६९॥
 यदि एकला है जीव तो परभाव सब परित्याग कर ।
 ध्या ज्ञानमय निज आतमा अरु शीघ्र शिवसुख प्राप्त कर ॥७०॥
 हर पाप को सारा जगत ही बोलता - यह पाप है ।
 पर कोई विरला बुध कहे कि पुण्य भी तो पाप है ॥७१॥
 लोह और स्वर्ण की बेड़ी में अन्तर है नहीं ।
 शुभ-अशुभ छोड़ें ज्ञानिजन दोनों में अन्तर है नहीं ॥७२॥
 हो जाय जब निर्ग्रन्थ मन निर्ग्रन्थ तब ही तू बने ।
 निर्ग्रन्थ जब हो जाय तू तब मुक्ति का मारग मिले ॥७३॥
 जिस भाँति बड़ में बीज है उस भाँति बड़ भी बीज में ।
 बस इसतरह त्रैलोक्य जिन आतम बसे इस देह में ॥७४॥
 जिनदेव जो मैं भी वही इस भाँति मन निर्भ्रान्त हो ।
 है यही शिवमग योगिजन ! ना मंत्र एवं तंत्र है ॥७५॥
 दो तीन चउ अरु पाँच नव अरु सात छह अरु पाँच फिर ।
 अरु चार गुण जिसमें बसें उस आतमा को जानिए ॥७६॥
 'दो छोड़कर दो गुण सहित परमात्मा में जो वसे ।
 शिवपद लहें वे शीघ्र ही' - इस भाँति सब जिनवर

क ह ॥ ७ ७ ॥
 तज तीन त्रयगुण सहित नित परमात्मा में जो वसे ।
 शिवपद लहें वे शीघ्र ही इस भाँति सब जिनवर कहें ॥७८॥
 जो रहित चार कषाय संज्ञा चार गुण से सहित हो ।
 तुम उसे जानों आतमा तो परमपावन हो सको ॥७९॥
 जो दश रहित दश सहित एवं दशगुणों से सहित हो ।
 तुम उसे जानो आतमा अर उसी में नित रत रहो ॥८०॥
 निज आतमा है ज्ञान दर्शन चरण भी निज आतमा ।
 तप शील प्रत्याख्यान संयम भी कहे निज आतमा ॥८१॥
 जो जान लेता स्व-पर को निर्भ्रान्त हो वह पर तजे ।
 जिन-केवली ने यह कहा कि बस यही संन्यास है ॥८२॥
 रतनत्रय से युक्त जो वह आतमा ही तीर्थ है ।
 है मोक्ष का कारण वही ना मंत्र है ना तंत्र है ॥८३॥
 निज देखना दर्शन तथा निज जानना ही ज्ञान है ।
 जो हो सतत वह आतमा की भावना चारित्र है ॥८४॥
 जिन-केवली ऐसा कहें - 'तहँ सकल गुण जहँ
 अ त म त'
 बस इसलिए ही योगीजन ध्याते सदा ही आतमा ॥८५॥
 तू एकला इन्द्रिय रहित मन वचन तन से शुद्ध हो ।
 निज आतमा को जान ले तो शीघ्र ही शिवसिद्ध हो ॥८६॥
 यदि बद्ध और अबद्ध माने बंधेगा निर्भ्रान्त ही ।
 जो रमेगा सहजात्म में तो पायेगा शिव शान्ति ही ॥८७॥
 जो जीव सम्यग्दृष्टि दुर्गति गमन ना कबहूँ करें ।
 यदि करें भी ना दोष पूरब करम को ही क्षय करें ॥८८॥
 सब छोड़कर व्यवहार नित निज आतमा में जो रमें ।
 वे जीव सम्यग्दृष्टि तुरतहिं शिवरमा में जा रमें ॥८९॥

सम्यक्त्व का प्राधान्य तो त्रैलोक्य में प्राधान्य भी ।
 बुध शीघ्र पावे सदा सुखनिधि और केवलज्ञान भी ॥९०॥
 जहँ होय थिर गुणगणनिलय जिय अजर अमृत आतमा ।
 तहँ कर्मबंधन हों नहीं झर जाँय पूरब कर्म भी ॥९१॥
 जिसतरह पद्मनि-पत्र जल से लिप्त होता है नहीं ।
 जिनभावतर जिय कर्ममल से लिप्त होता है नहीं ॥९२॥
 लीन समसुख जीव बारम्बार ध्याते आतमा ।
 वे कर्म क्षयकर शीघ्र पावें परमपद परमात्मा ॥९३॥
 पुरुष के आकार जिय गुणगणनिलय सम सहित है ।
 यह परमपावन जीव निर्मल तेज से स्फुरित है ॥९४॥
 इस अशुचि-तन से भिन्न आतमदेव को जो जानता ।
 नित्य सुख में लीन बुध वह सकल जिनश्रुत जानता ॥९५॥
 जो स्व-पर को नहिं जानता छोड़े नहीं परभाव को ।
 वह जानकर भी सकल श्रुत शिवसौख्य को ना प्राप्त हो ॥९६॥
 सब विकल्पों का वमन कर जम जाय परमसमाधि में ।
 तब जो अतीन्द्रिय सुख मिले शिवसुख उसी को जिन कहें ॥९७॥
 पिण्डस्थ और पदस्थ अर रूपस्थ रूपातीत जो ।
 शुभध्यान जिनवर ने कहे जानो कि परमपवित्र हो ॥९८॥
 'जीव हैं सब ज्ञानमय' - इस रूप जो समभाव हो ।
 है वही सामायिक कहें जिनदेव इसमें शक न हो ॥९९॥
 जो राग एवं द्वेष के परिहार से समभाव हो ।
 है वही सामायिक कहें जिनदेव इसमें शक न हो ॥१००॥
 हिंसादि के परिहार से जो आत्म-स्थिरता बड़े ।
 यह दूसरा चारित्र है जो मुक्ति का कारण कहा ॥१०१॥
 जो बड़े दर्शनशुद्धि मिथ्यात्वादि के परिहार से ।
 परिहारशुद्धी चरित जानो सिद्धि के उपहार से ॥१०२॥

लोभ सूक्ष्म जब गले तब सूक्ष्म सुध-उपयोग हो ।
 है सूक्ष्मसाम्पराय जिसमें सदा सुख का भोग हो ॥१०३॥
 अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण ।
 सब आतमा ही हैं श्री जिनदेव का निश्चय कथन ॥१०४॥
 वह आतमा ही विष्णु है जिन रुद्र शिव शंकर वही ।
 बुद्ध ब्रह्मा सिद्ध ईश्वर है वही भगवन्त भी ॥१०५॥
 इन लक्षणों से विशद लक्षित देव जो निर्देह है ।
 कोई अन्तर है नहीं जो देह-देवल में रहे ॥१०६॥
 जो होंयगे या हो रहे या सिद्ध अबतक जो हुए ।
 यह बात है निर्भ्रान्त वे सब आत्मदर्शन से हुए ॥१०७॥
 भवदुखों से भयभीत योगीचन्द्र मुनिवरदेव ने ।
 ये एकमन से रचे दोहे स्वयं को संबोधने ॥१०८॥

जोइन्दु मुनिवरदेव ने दोहे रचे अपभ्रंस में ।

ये दोहे हैं जो भगवान् ने स्वयं रचित किये हैं ।

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है । स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है - ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है । तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि पर-पदार्यों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा । ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा । एक बार ऐसा स्वीकार करके तो देख ।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३

द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद

षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय अधिकार

(हरिगीत)

कहे जीव अजीव जिन जिनवरवृषभ ने लोक में ।
 वे वंघ सुरपति वृन्द से बंदन करूँ कर जोर मैं ॥१॥
 जीव कर्त्ता भोक्ता अर अमूर्तिक उपयोगमय ।
 अर सिद्ध भवगत देहमित निजभाव से ही ऊर्ध्वगत ॥२॥
 जो सदा धारें श्वाँस इन्द्रिय आयु बल व्यवहार से ।
 वे जीव निश्चयजीव वे जिनके रहे नित चेतना ॥३॥
 उपयोग दो हैं ज्ञान-दर्शन चार दर्शन जानिये ।
 चक्षु अचक्षु अवधि केवल नाम से पहिचानिये ॥४॥
 ज्ञान आठ मतिश्रुतावधि ज्ञान भी कुज्ञान भी ।
 मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष भी ॥५॥
 सामान्यतः चऊ-आठ दर्शन-ज्ञान जिय लक्षण कहे ।
 व्यवहार से पर शुद्धनय से शुद्धदर्शन-ज्ञान हैं ॥६॥
 स्पर्श रस गंध वर्ण जिय में नहीं हैं परमार्थ से ।
 अतः जीव अमूर्त मूर्तिक बंध से व्यवहार से ॥७॥
 चिद्कर्मकर्त्ता नियत से द्रव्यकर्म का व्यवहार से ।
 शुधभाव का कर्त्ता कहा है आतमा परमार्थ से ॥८॥
 कर्मफल सुख-दुःख भोगे जीव नयव्यवहार से ।
 किन्तु चेतनभाव को भोगे सदा परमार्थ से ॥९॥
 समुद्घात विन तनमापमय संकोच से विस्तार से ।
 व्यवहार से यह जीव असंख्य प्रदेशमय परमार्थ से ॥१०॥
 भूजलानलवनस्पति अर वायु थावर जीव हैं ।
 दो इन्द्रियों से पाँच तक शंखादि सब त्रस जीव हैं ॥११॥

पंचेन्द्रियी संज्ञी-असंज्ञी शेष सब असंज्ञी ही हैं।
 एकेन्द्रियी हैं सूक्ष्म-बादर पर्याप्तकेतर सभी हैं ॥१२॥
 भवलीन जिय विध चतुर्दश गुणथान मार्गणथान से।
 अशुद्धनय से कहे हैं पर शुद्धनय से शुद्ध हैं ॥१३॥
 उत्पादव्ययसंयुक्त अन्तिम देह से कुछ न्यून हैं।
 लोकाग्रथित निष्कर्म शाश्वत अष्टगुणमय सिद्ध हैं ॥१४॥
 मूर्त पुद्गल किन्तु धर्माधर्मनभ अर काल भी।
 मूर्तिक नहीं हैं तथापि ये सभी द्रव्य अजीव हैं ॥१५॥
 थूल सूक्ष्म बंध तम संस्थान आतप भेद अर।
 उद्योत छाया शब्द पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं ॥१६॥
 स्वयं चलती मीन को जल निमित्त होता जिसतरह।
 चलते हुए जिय-पुद्गलों को धरमदरव उसीतरह ॥१७॥
 छाया निमित्त ज्यों गमनपूर्वक स्वयं ठहरे पथिक को।
 अधरम त्यों ठहरने में निमित्त पुद्गल-जीव को ॥१८॥
 आकाश वह जीवादि को अवकाश देने योग्य जो।
 आकाश के दो भेद हैं जो लोक और अलोक हैं ॥१९॥
 काल धर्माधर्म जिय पुद्गल रहें जिस क्षेत्र में।
 वह क्षेत्र ही बस लोक है अवशेष क्षेत्र अलोक है ॥२०॥
 परीवर्तनरूप परिणामादि लक्षित काल जो।
 व्यवहार वह परमार्थ तो बस वर्तनामय जानिये ॥२१॥
 जानलो इस लोक के जो एक-एक प्रदेश पर।
 रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव ॥२२॥
 इसतरह ये छह दरव जो जीव और अजीवमय।
 कालबिन बाकी दरव ही पंच अस्तिकाय हैं ॥२३॥
 कायवत बहुप्रदेशी हैं इसलिए तो काय हैं।
 अस्तित्वमय हैं इसलिए अस्ति कहा जिनदेव ने ॥२४॥

हैं अनंत प्रदेश नभ जिय धर्म अधर्म असंख्य हैं।
 सब पुद्गलों के त्रिविध एवं काल का बस एक है ॥२५॥
 यद्यपि पुद्गल अणु है मात्र एक प्रदेशमय।
 पर बहुप्रदेशी कहे जिन स्कन्ध के उपचार से ॥२६॥
 एक अणु जितनी जगह घेरे प्रदेश कहे उसे।
 किन्तु एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु रहें ॥२७॥
 बंध आस्रव पुण्य-पापरु मोक्ष संवर निर्जरा।
 विशेष जीव अजीव के संक्षेप में उनको कहे ॥२८॥
 कर्म आना द्रव्य आस्रव जीव के जिस भाव से।
 हो कर्म आस्रव भाव वे ही भाव आस्रव जानिये ॥२९॥
 मिथ्यात्व-अविरति पाँच-पाँचरु पंचदश परमाद हैं।
 त्रय योग चार कषाय ये सब आस्रवों के भेद हैं ॥३०॥
 ज्ञानावरण आदिक करम के योग्य पुद्गल आगमन।
 है द्रव्य आस्रव विविधविध जो कहा जिनवर देव ने ॥३१॥
 जिस भाव से हो कर्मबंधन भावबंध है भाव वह।
 द्रवबंध बंधन प्रदेशों का आतमा अर कर्म के ॥३२॥
 बंध चार प्रकार प्रकृति प्रदेश थिति अनुभाग ये।
 योग से प्रकृति प्रदेश अनुभाग थिती कषाय से ॥३३॥
 कर्म रुकना द्रव्यसंवर और उसके हेतु जो।
 निज आतमा के भाव वे ही भावसंवर जानिये ॥३४॥
 व्रत समिति गुप्ती धर्म परिषहजय तथा अनुप्रेक्षा।
 चारित्र भेद अनेक वे सब भावसंवररूप हैं ॥३५॥
 द्रवनिर्जरा है कर्म झरना और उसके हेतु जो।
 तपरूप निर्मल भाव वे ही भावनिर्जर जानिये ॥३६॥
 भावमुक्ती कर्मक्षय के हेतु निर्मलभाव हैं।
 अर द्रव्यमुक्ती कर्मरज से मुक्त होना जानिये ॥३७॥

शुभाशुभपरिणामयुत जिय पुण-पाप सातावेदनी ।
 शुभ आयु नामरु गोत्र पुण अवशेष तो सब पाप हैं ॥३८॥
 सम्यग्दरशसद्ज्ञानचारित्र मुक्तिमग व्यवहार से ।
 इन तीन मय शुद्धातमा है मुक्तिमग परमार्थ से ॥३९॥
 आतमा से भिन्न द्रव्यों में रहें न रतनत्रय ।
 बस इसलिए ही रतनत्रयमय आतमा ही मुक्तिमग ॥४०॥
 जीवादि का श्रद्धान समकित जो कि आत्मस्वरूप है ।
 और दुरभिनिवेश विरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥४१॥
 संशयविमोहविभरमविरहित स्वपर को जो जानता ।
 साकार सम्यग्ज्ञान है वह है अनेकप्रकार का ॥४२॥
 अर्थग्राहक निर्विकल्पक और है अविशेष जो ।
 सामान्य अवलोकन करे जो उसे दर्शन जानना ॥४३॥
 जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक ।
 पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये ॥४४॥
 अशुभ से विनिवृत्त हो व्रत समितिगुप्तिरूप में ।
 शुभभावमय हो प्रवृत्ती व्यवहारचारित्र जिन कहें ॥४५॥
 बाह्य अंतर क्रिया के अवरोध से जो भाव हों ।
 संसारनाशक भाव वे परमार्थ चारित्र जानिये ॥४६॥
 अरे दोनों मुक्तिमग बस ध्यान में ही प्राप्त हो ।
 इसलिए चित्तप्रसन्न से नित करो ध्यानाभ्यास तुम ॥४७॥
 यदि कामना है निर्विकल्पक ध्यान में हो चित्त थिर ।
 तो मोह-राग-द्वेष इष्टानिष्ट में तुम ना करो ॥४८॥
 परमेष्ठीवाचक एक दो छह चार सोलह पाँच अर ।
 पैतीस अक्षर जपो नित अर अन्य गुरु उपदेश से ॥४९॥
 नाशकर चऊ घाति दर्शन ज्ञान सुख अर वीर्यमय ।
 शुभदेहथित अरिहंत जिन का नित्यप्रति चिन्तन करो ॥५०॥

लोकाग्रथित निर्देह लोकालोक ज्ञायक आतमा ।
 अठकर्मनाशक सिद्धप्रभु का ध्यान तुम नित ही करो ॥५१॥
 ज्ञान-दर्शन-वीर्य-तप एवं चरित्राचार में ।
 जो जोड़ते हैं स्वपर को ध्यावो उन्हीं आचार्य को ॥५२॥
 रतनत्रय युत नित निरत जो धर्म के उपदेश में ।
 सब साधुजन में श्रेष्ठ श्री उवझाय को वंदन करें ॥५३॥
 जो ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र की आराधना ।
 कर मोक्षमारग में खड़े उन साधुओं को हो नमन ॥५४॥
 निजध्येय में एकत्व निष्पृहवृत्ति धारक साधुजन ।
 चिन्तन करें जिस किसी का भी सभी निश्चय ध्यान है ॥५५॥
 बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो ।
 उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो ॥५६॥
 व्रती तपसी श्रुताभ्यासी ध्यान में हों धुरन्धर ।
 निजध्यान करने के लिए तुम करो इनकी साधना ॥५७॥
 अल्प श्रुतधर नेमिचंद मुनि द्रव्यसंग्रह संग्रही ।
 अब दोषविरहित पूर्णश्रुतधर साधु संशोधन करें ॥५८॥

ईसवी सन् दो सहस्र दो अर चतुर्दश दिसम्बर ।
 को द्रव्यसंग्रह शास्त्र का पूरण हुआ अनुवाद यह ॥

-●-

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है ।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है । अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है ।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६

मंगलाचरण

समयसार अनुशीलन

(अडिल्ल छन्द)

समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य जो ।
आत्मख्याति का एकमात्र आराध्य जो ॥
अज अनादि अनिधन अविचल सद्भाव जो ।
त्रैकालिक ध्रुव सुखमय ज्ञायकभाव जो ॥१॥
परमशुद्धनिश्चयनय का है ज्ञेय जो ।
सत्श्रद्धा का एकमात्र श्रद्धेय जो ॥
परमध्यान का ध्येय उसे ही ध्याऊँ मैं ।
उसे प्राप्त कर उसमें ही रम जाऊँ मैं ॥२॥
समयसार अरु आत्मख्याति के भाव को ।
जो कुछ जैसा समझा है मैंने प्रभो ॥
उसी भाव को सहज सरल शैली विषे ।
विविध पक्ष से जन-जन के हित रख रहा ॥३॥
इसमें भी है एक स्वार्थ मेरा प्रभो ।
नित प्रति ही चित रहा करे इसमें विभो ॥
मेरे मन का हो ऐसा ही परिणमन ।
मन का ही अनुकरण करें हित-मित वचन ॥४॥
अपनापन हो निज आतम में नित्य ही ।
अपना जानूँ निज आतम को नित्य ही ॥
रहे निरन्तर निज आतम में ही रमन ।
रहूँ निरन्तर निज आतम में ही मगन ॥५॥
अन्य न कोई हो विकल्प हे आत्मन् ।
निज आतम का ज्ञान ध्यान चिन्तन मनन ॥
गहराई से होय निरन्तर अध्ययन ।
निश-दिन ही बस रहे निरन्तर एक धुन ॥६॥

प्रवचनसार अनुशीलन

(अडिल्ल छन्द)

ज्ञान-ज्ञेयमय निज आतम आराध्य है ।
ज्ञान-ज्ञेयमय आतम ही प्रतिपाद्य है ॥
ज्ञान-ज्ञेयमय एक आतमा सार है ।
जिनप्रवचन का सारहि प्रवचनसार है ॥१॥
लोकालोक प्रकाशित जिनके ज्ञान में ।
किन्तु आतमा एक है जिनके ध्यान में ॥
भव्यजनों को जिनका एक अधार है ।
जिनकी ध्वनि का सार ये प्रवचनसार है ॥२॥
उनके वचनों में ही निशदिन जो रमें ।
उनके ही वचनों का प्रतिपादन करें ॥
कुन्दकुन्द से उन गुरुओं को धन्य है ।
उनके सदृश जग में कोई न अन्य है ॥३॥
उन्हें नमन कर उनकी वाणी में रमूँ ।
जिसमें वे हैं जमे उसी में मैं जमूँ ॥
उनके ही पदचिह्नों पर अब मैं चलूँ ।
उनकी ही वाणी का अनुशीलन करूँ ॥४॥
मेरा यह उपयोग इसी में नित रहे ।
मेरा यह उपयोग सतत् निर्मल रहे ॥
यही कामना जग समझे निजतत्त्व को ।
यही भावना परमविशुद्धि प्राप्त हो ॥५॥

परमभावप्रकाशक नयचक्र

(हरिगीत)

जो एक शुद्ध विकारवर्जित, अचल परम पदार्थ है ।
जो एक ज्ञायकभाव निर्मल, नित्य निज परमार्थ है ॥
जिसके दरश व जानने, का नाम दर्शन ज्ञान है ।
हो नमन उस परमार्थ को, जिसमें चरण ही ध्यान है ॥१॥

निज आत्मा को जानकर, पहिचानकर जमकर अभी ।
जो बन गये परमात्मा, पर्याय में भी वे सभी ॥
वे साध्य हैं, आराध्य हैं, आराधना के सार हैं ।
हो नमन उन जिनदेव को, जो भवजलधि के पार हैं ॥२॥

भवचक्र से जो भव्यजन को, सदा पार उतारती ।
जगजालमय एकान्त को, जो रही सदा नकारती ॥
निजतत्त्व को पाकर भविक, जिसकी उतारें आरती ।
नयचक्रमय उपलब्ध नित, यह नित्यबोधक भारती ॥३॥

नयचक्र के संचार में, जो चतुर हैं, प्रतिबुद्ध हैं ।
भवचक्र के संहार में, जो प्रतिसमय सन्नद्ध हैं ॥
निज आत्मा की साधना में, निरत तन मन नगन हैं ।
भव्यजन के शरण जिनके, चरण उनको नमन है ॥४॥

कर कर नमन निजभाव को, जिन जिनगुरु जिनवचन को ।
निजभाव निर्मलकरन को, जिनवरकथित नयचक्र को ॥
निजबुद्धिबल अनुसार, प्रस्तुत कर रहा हूँ विज्ञजन ।
ध्यान रखना चाहिए, यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥५॥